समता
पर्यूषण पर्वाराधना

लेखक-
सज्जनसिंह मेहता 'साथी'

प्रकाशक-
समता प्रचार संघ
(अन्तर्गत- अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर)

पुस्तक का नाम - **समता पर्युषण पर्वाराधना**

लेखक - **सज्जनसिंह मेहता 'साथी'**
एम.ए. हिन्दी, राजनीतिशास्त्र
जैन सिद्धान्त शास्त्री
सेवानिवृत्त विकास अधिकारी
झाला मन्ना चौराहा, बड़ीसादड़ी-३१२४०३
संयोजक- समता प्रचार संघ

प्रकाशक - **समता प्रचार संघ**
(अन्तर्गत- अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर)

मूल्य - 45/-

सन् - 1998

अक्षराङ्कन - **श्रीराजेन्द्र कम्प्यूटर्स**
आयड़, उदयपुर-313 001

मुद्रण - **पारदर्शी प्रिन्टर्स**
261, ताम्बावती मार्ग,
उदयपुर-313 001
☎ (0294) 411029

लेखक की कलम से..

आजकल जनमानस का आकर्षण भौतिक साधनों की ओर है । आध्यात्म के प्रति आकर्षण, धर्म के प्रति रूचि शनैः शनैः मन्द होती चली जा रही है । आज हमने भौतिक विकास में ही सुख की उपलब्धि समझ ली है, धन-वैभव को ही सुख का साधन मान लिया है, रात-दिन उसी के उपार्जन में लगे रहते हैं, फिर भी सुख नहीं मिलता । आज हमारी स्थिति मृग मरीचिका की तरह हो रही है । सुख के लिए रात-दिन एक कर देते हैं, फिर भी सुख के स्थान पर दुःख, असन्तोष और विषाद ही मिलता है । कवि ने ठीक ही कहा है-

गौ धन गजधन वाजिधन, और रतन धन खान ।
जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूलि समान ॥

ऐसी विषम परिस्थिति में, ऐसे घोर अन्धकार में, महापुरुषों की अमूल्य वाणी प्रकाश पुञ्ज के समान है, जीवन में सुखदायी है । वर्तमान में भगवान महावीर के अनुयायी आचार्य प्रवर श्री नानालालजी म. सा. एवं उनका समता सिद्धान्त दिग्-भ्रान्त व्यक्तियों के लिए प्रकाश स्तम्भ रूप है । विषमता के वातावरण में समता का संचार करने वाला है ।

विश्व के आध्यात्मिक विकास में जैन धर्म का अपना विशिष्ट स्थान है । जैन धर्म की श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अष्ट दिवसीय पर्युषण पर्व को लोकात्तर पर्व के रूप में मनाने की परम्परा है । यह पर्व धार्मिक उत्साह का पर्व है । जहाँ सन्त-मुनिराज अथवा महासतियाँजी म. सा. विराजते हैं वहाँ तो पर्युषण पर्व के अवसर पर पूर्ण उत्साह पाया जाना स्वाभाविक है, लेकिन जैन समाज देश के कोने-कोने में व्याप्त है । जैन श्रमण-श्रमणियों की

संख्या बहुत कम है तथा कई क्षेत्रों में उनका पहुँच पाना संभव नहीं है, ऐसी स्थिति में जैन धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु तथा पर्युषण पर्व में धार्मिक आराधना हेतु स्वाध्याय संघों की स्थापना की गई । निःसंदेह ये स्वाध्याय संघ बहुत बड़ा कार्य कर रहे हैं । इनकी सफलता इस बात से ही स्पष्ट है कि स्वाध्यायी सदस्यों की मांग प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही है । प्रति वर्ष नये-नये क्षेत्रों में स्वाध्यायी सदस्य अपनी सेवाएँ देने जा रहे हैं । देश के विभिन्न भागों में नये-नये स्वाध्याय संघों की स्थापना हो रही है । विदेशों में भी स्वाध्यायी सदस्यों की सेवाएँ उपलब्ध होने लगी हैं । समता प्रचार संघ योग्य स्वाध्यायियों को भेजकर प्रतिवर्ष देश के विभिन्न भागों में पर्युषण पर्व मनाने में अपना योगदान दे रहा है । वर्ष में तीन चार शिविर आयोजित कर स्वाध्यायी सदस्यों को पर्युषण पर्व के लिये समुचित प्रशिक्षण देने का प्रयत्न कर रहा है ।

पर्युषण पर्व में सेवा देने वाले स्वाध्यायी सदस्यों के मार्गदर्शन हेतु प्रवचन की पुस्तकें विभिन्न संस्थाओं द्वारा प्रकाशित की गई हैं । वे स्वाध्यायियों के लिए बहुत उपयोगी है । फिर भी पर्युषण पर्व के साहित्य का अभाव चल रहा है। कुछ पुस्तकें तो उपलब्ध भी नहीं हो रही है । सामान्यतया स्वाध्यायी बन्धुओं की यह शिकायत रही है कि उनके पास पर्युषण पर्व प्रवचन सामग्री का अभाव है । फिर ऐसी कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है कि जिसमें प्रवचन के साथ-साथ अन्य उपयोगी सामग्री एक ही पुस्तक में मिल सके । सरल भाषा शैली में व्याख्यानों का अभाव भी अनुभव किया जा रहा है । अतः मैंने विचार किया कि ऐसी एक पुस्तक तैयार की जाय, जिसमें आठ दिनों के लिए सरल भाषा में व्याख्यान हों तथा व्याख्यान सम्बन्धी अन्य सामग्री भी हो । समता प्रचार संघ के पूर्व संयोजक श्रीमान् गणेशलालजी सा. वया की इच्छा थी कि पुस्तक में व्याख्यान आठ ही न हों वरन् 10 या 12 हों ताकि स्वाध्यायी सदस्य अपनी योग्यता एवं रूचि के अनुसार

व्याख्यान की तैयारी कर सके । साथ ही उन्हें जैन सिद्धान्त के मूल विषयों की अच्छी जानकारी हो सके ।

श्रमण संस्कृति के अडिग रक्षक आचार्य प्रवर 1008 श्री नानालालजी म. सा., युवाचार्य श्री रामलालजी म. सा. एवं अन्य महापुरुषों के प्रवचनों के आधार पर पर्युषण पर्व के लिए उपयोगी प्रवचनों की यह पुस्तक तैयार की गई है । इस पुस्तक में ग्यारह विषयों पर अत्यन्त सरल भाषा में व्याख्यान की सामग्री दी गई है । विभिन्न विषयों पर विचार लेखबद्ध करने के बाद कुछ परिशिष्ट जोड़े गये हैं । इसमें में स्वाध्यायी सदस्यों के लिए व्याख्यान के पूर्व अथवा अन्त में बोलने वाली उपयोगी प्रार्थनाएँ, पर्युषण पर्व सम्बन्धी कुछ स्तवन, प्रत्याख्यान सूत्र, श्रावक के तीन मनोरथ, चौदह नियम तथा अन्य सामग्री है । व्याख्यान को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए गाथाएँ, श्लोक, अंग्रेजी वाक्य आदि का प्रयोग श्रेयस्कर हो सकता है । परिशिष्ट में प्राकृत की गाथाएँ, संस्कृत श्लोक, मंगलपाठ तथा अंग्रेजी के वाक्य संकलित किये गये हैं । इस प्रकार मैंने इस पुस्तक को स्वाध्यायियों के लिए अधिकतम उपयोगी बनाने का प्रयास किया है । इस पुस्तक के लिए परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर के सुशिष्य युवाचार्य प्रवर 1008 विद्वद्वर्य श्री रामलालजी म. सा. की प्रेरणा अत्यधिक रही । परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर एवं युवाचार्य प्रवर की असीम अनुकम्पा से ही यह पुस्तक लिखी जा सकी है । अतः मैं परम श्रद्धेय समता विभूति आचार्य प्रवर 1008 श्री नानालालजी म. सा., युवाचार्य प्रवर 1008 श्री रामलालजी म. सा. एवं स्थविर प्रमुख श्री ज्ञानमुनिजी म. सा. का अत्यन्त आभारी हूँ ।

मैं श्री अ0 भा0 साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर के वर्तमान अध्यक्ष सुश्रावक श्रीमान् गुमानमलजी सा. चोरड़िया का भी बहुत आभारी हूँ ।

मैं अन्य सभी उन महानुभावों का भी आभारी हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सहयोग प्रदान किया है ।

इसकी उपयोगिता पाठकों पर निर्भर है । पाठकों से निवेदन है कि वे आवश्यक एवं उपयोगी सुझाव भिजवायें ।

अन्त में यही निवेदन है कि पुस्तक की अच्छाईयाँ एवं विशेषताएँ परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर की कृपा से हैं एवं पुस्तक में दोष या त्रुटि के लिए मैं स्वयं उत्तरदायी हूँ । विद्वान पाठक यदि कोई सूत्र विरुद्ध बात पाएँ तो उसका कारण मेरी अल्पज्ञता ही समझें । यदि वीतराग वाणी की किसी प्रकार से आशातना हुई हो तो मैं स्वयं क्षमाप्रार्थी हूँ । पुस्तक में जैन सिद्धान्त के प्रमुख तत्त्वों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है जिससे तत्त्व जिज्ञासुओं के लिए एवं स्वाध्याय प्रेमियों के लिए उपयोगी हो सके ।

सज्जनसिंह मेहता 'साथी'
झाला मन्ना चौराहा,
बड़ीसादड़ी



समर्पण

परम श्रद्धेय, समता विभूति,
समीक्षण ध्यान योगी, धर्मपाल प्रतिबोधक
आचार्य प्रवर 1008
श्री नानालालजी म. सा. एवं
तरुण तपस्वी शास्त्रज्ञ, प्रशान्तमना
युवाचार्य प्रवर 1008
श्री रामलालजी म. सा.
के पावन चरणों में
हृदय की असीम श्रद्धा के साथ
पर्युषण पर्व के व्याख्यानों की
यह पुस्तक समर्पित है।

अनुक्रमणिका

धर्म का मर्म

धर्म के अभाव में मानव भी बिना सींग-पूँछ का पशु है । खाना-पीना, भोग-संभोग आदि क्रियाएँ मानव की तरह पशु भी करता है । लेकिन वह मानव की तरह स्वाध्याय, सामायिक, तप-संयम, प्रभु भक्ति, ध्यान आराधना आदि धार्मिक अनुष्ठानों को दैनिक जीवन में नहीं अपना पाता है । यही तो प्रमुख अन्तर है पशु और मानव में । देवों से भी दुर्लभ यह मानवभव है, जिसके द्वारा मुक्ति के मार्ग पर कदम बढाये जा सकते हैं ।

एकमात्र धर्म ही संसार सागर से तिराने वाला है । धर्म वह बहुमूल्य कोष है जिसका शब्दों में वर्णन संभव नहीं है । पर्युषण पर्व का यह पावन प्रसंग हमें धर्माराधना की प्रेरणा देता है। धर्माराधना द्वारा ही इस दुर्लभ मानव भव को सार्थक एवं सफल बनाया जा सकता है ।

पद्‌म प्रभु पावन नाम तिहारो,
पतित उद्धारन हारो । पद्‌म प्रभु पावन....
जदपि धीवर भील कसाई, अति पापिष्ट जमारो ।
तदपि जीव हिंसा तज प्रभु भज, पावे भव निधि पारो।
पद्‌म प्रभु पावन नाम तिहारो ॥

यह छठे तीर्थङ्कर पद्‌मप्रभु की प्रार्थना है । कवि ने प्रार्थना की कड़ियों में प्रभु का नाम 'पावन' कहा है । भगवान का नाम पतितों का उद्धार करने वाला है । कवि कहता है कि धीवर, भील, कसाई आदि व्यक्ति जो पापयुक्त व्यापार करते हैं, वे यदि हिंसाजनक कार्यों का त्याग कर प्रभु के नाम का स्मरण करें तो उनका उद्धार हो सकता है । प्रभु के नाम में अनन्त शक्ति है, परन्तु चाहिये आत्मा की शुद्धता । हमें भी अपना उद्धार करना है। आत्मोत्थान के लिए ही पर्वाधिराज पावन पर्युषण पर्व प्रतिवर्ष आते है और भव्य प्राणी अपने आप को धर्म में प्रवृत्त कर उत्थान के मार्ग पर अग्रसर होते हैं । ये पर्युषण पर्व धर्माराधना की प्रेरणा करते हैं । हमें अपनी आत्मा को दान, शील, तप और उत्तम शुद्ध भावना में लगाकर सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यगचारित्र एवं सम्यग् तप की आराधना करनी है । भव्य प्राणी भगवान् पद्‌म प्रभु की प्रार्थना कर पापों से निवृत्त होवें तथा अपनी आत्मा को स्वच्छ बनावें । दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है-

"धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई"

जैसे सिंहनी का दूध स्वर्ण के पात्र में ही ठहर सकता है, उसी प्रकार धर्म भी पावन शुद्ध आत्मा में ही टिक सकता है । मानव इस प्रसंग पर अपनी आत्मा का शुद्धिकरण करें, जिससे यह अनमोल धर्म उसके जीवन का अंग बन सके । आज पर्युषण पर्व का पहला दिवस है जिसकी प्रतीक्षा भव्यजन कई दिनों से कर रहे थे। यह अष्ट दिवसीय पवित्र पर्व जन-जन को जगाने आया है । श्रमण संस्कृति का यह विशिष्ट पर्व है ।

पर्व का अर्थ-

पर्व के कई अर्थ होते हैं, परन्तु वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पर्व का अर्थ है- पवित्र पावन दिवस । हमारे देश में अनेक पर्व मनाये जाते हैं । ये पर्व दो प्रकार के होते हैं- (1) लौकिक और (2) लोकोत्तर

लौकिक पर्व- ये पर्व आमोद-प्रमोद, हर्ष-उल्लास, भोग-उपभोग के लिए होते हैं । इन पर्वों का सम्बन्ध शारीरिक पोषण व मनोरंजन से होता है, आत्म-साधना से नहीं । दीपावली, दशहरा, रक्षाबन्धन, होली आदि लौकिक पर्व हैं । राष्ट्रीय पर्व इसी श्रेणी में आते हैं । इन पर्वों के मूल में कुछ भी कारण रहा हो लेकिन आज ये पर्व लौकिक पर्व की सीमा में आबद्ध हैं ।

लोकोत्तर पर्व- दूसरी श्रेणी के पर्व, शरीर की सीमा से उपर उठकर आत्म-साधना और आत्मोत्थान की प्रेरणा देते हैं, इसीलिये वे लोकोत्तर पर्व कहलाते हैं । इन पर्वों के प्रसंग से उपरी तौर पर भले ही शरीर का शोषण लगता है, परन्तु इनसे आत्मा का पोषण होता है । इन पर्वों को धार्मिक या आध्यात्मिक पर्व भी कहते हैं । सभी धर्मों में लोकोत्तर पर्व मनाए जाते हैं, जैसे बौद्ध धर्म में वैशाखी, हिन्दु धर्म में जन्माष्टमी, रामनवमी, निर्जला एकादशी आदि । इस्लाम धर्म में रमजान, इसाई धर्म में क्रिसमस, जैन धर्म में पर्युषण पर्व, महावीर जयन्ती आदि । जैन धर्म में पर्युषण पर्व विशेष आत्म-शुद्धि का पर्व है । इस पावन प्रसंग पर भव्य जनशरीर से ऊपर उठकर आत्म-शुद्धि एवं आत्म-दर्शन का प्रयत्न करें जिससे परमात्म-दर्शन का मार्ग प्रशस्त हो सके । जिस प्रकार दीपावली के अवसर पर सभी लोग मकानों का कूड़ा कचरा निकाल कर स्वच्छ करते हैं, बाह्य शुद्धि करते हैं, उसी प्रकार पर्युषण पर्व के इस पवित्र-पावन प्रसंग पर मानव अपनी आत्मा के निवास स्थान रूपी शरीर से राग-द्वेष, कषाय, मिथ्यात्व रूपी कचरा निकाल कर उसे शुद्ध-स्वच्छ बनाने का प्रयत्न करें । आत्मा को दान, शील, तप और शुद्ध भाव में लगावें । कवि ने कहा है-

प्रतीक्षा कर रहा था। महल में प्रवेश करते ही सेठ को भयंकर दुर्गन्ध का सामना पड़ा। उसे विवश होकर नाक पर रूमाल लगा लेना पड़ा। सारे महल में अन्धकार एवं दुर्घन्ध व्याप्त थी। सेठ ने पाया कि सभी कमरे गन्दगी से भरे हैं। एक क्षण भी वहाँ ठहरने की इच्छा न हुई। सेठ शीघ्र ही बाहर निकल आया। पुत्र से पूछा कि उसने यह क्या किया ? बड़े पुत्र ने कहा कि पिताजी आप ही बताएँ कि सौ रुपयों में और क्या आ सकता था ? सेठ को अत्यन्त दुःख हुआ। इतने सुन्दर महल की यह दुर्दशा हुई। पुत्र की नासमझी पर खेद करता हुआ वह दूसरे पुत्र के महल की ओर चल दिया। छोटा पुत्र भी द्वार पर अपने पिता की प्रतीक्षा कर रहा था। पिता के आने पर उसने उनका स्वागत किया एवं महल में ले गया। रात्रि के अन्धकार में भी महल प्रकाश से जगमगा रहा था एवं सौरभ से परिपूर्ण था। पिता का हृदय गद्‌गद् हो गया। उसने सन्तोष की साँस ली तथा छोटे पुत्र की पीठ थपथपाई। बड़ा पुत्र भी यहाँ तक पहुँच चुका था। उसका मस्तक शर्म से झुक गया। पिता ने सोचा कि छोटा पुत्र ही घर का वास्तविक उत्तराधिकारी है।'

बन्धुओं ! यह तो एक प्रसंग है लेकिन अपने आत्मा रूपी महल को ज्ञान रूपी प्रकाश एवं सद्‌चरित्र-सदाचार रूपी सौरभ से भरने का सन्देश यह पर्वराज पर्युषण सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त करने के लिये दे रहा है। तत्वार्थ सूत्र का प्रथम सूत्र भी मोक्ष मार्ग का संकेत करता है-

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष मार्गः'

मोक्ष मार्ग की साधना के लिए यह शुभ अवसर मिला है। कर्म भी आठ है और मद भी आठ हैं। इन्हें नष्ट करना है। आठ प्रवचन माता की आराधना करनी है, सिद्धों के आठ गुणों को प्रगट करना है और पर्युषण पर्व के भी आठ ही दिवस हैं। आज से ही पूर्ण तैयारी के साथ आत्म-साधना में लग जाना है। प्रत्येक कार्य का शुभारम्भ अच्छा होना चाहिये। अंग्रेजी में कहावत है-

Well begin is half done.

'अच्छा आरम्भ आधी सफलता है'

आज प्रथम दिवस के पावन अवसर पर हमें अन्तर मन को जागृत करना है, यदि प्रारम्भ अच्छा है, तो कार्य में अवश्य सफलता मिलेगी ।

क्या करें-

इन आठ दिवसों में हमें अपना जीवन संयमित एवं धार्मिक विचारों से परिपूर्ण बनाने का प्रयत्न करना है, साधना के पथ पर आगे बढ़ना है । आठों दिवस तक चारों स्कन्धों का पालन आवश्यक है । जो व्यक्ति वर्ष भर अपना जीवन त्याग मार्ग पर नहीं लगा पाते हैं उन्हें कम से कम इन आठ दिनों तक तो अवश्य त्यागमय जीवन व्यतीत करना चाहिये ।

चार स्कन्ध इस प्रकार हैं-

1. रात्रि भोजन का सर्वथा त्याग अर्थात् चौविहार (चारों आहार) का त्याग करना चाहिये ।

2. वनस्पति का पूर्ण त्याग- हरे फलों व सब्जियों का उपयोग नहीं करें ।

3. सचित्त वस्तु का त्याग- किसी भी प्रकार की सचित्त वस्तु जैसे- कच्चा पानी आदि का उपयोग नहीं करें ।

4. ब्रह्मचर्य का पालन- आठों दिवस पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करें ।

उपरोक्त त्यागों के साथ इन दिनों में कषायों को शान्त करने का प्रयत्न करें, स्वाध्याय करें, चिन्तन-मनन करें, तप करें, अठारह प्रकार के पापों से वंचित होने का प्रयास करें, पूर्व के पापों की आलोचना एवं यदि किसी से वैमनस्य हुआ हो तो क्षमापना

करें, दान-शील-तप और शुभ भावना में रमण करते हुए आत्म शुद्धि करें ।

कहने को अनेक बातें हो सकती हैं परन्तु अभी उसका अवसर नहीं है । प्रत्येक भव्य का लक्ष्य यह हो कि अपनी आत्मा को धर्म मार्ग पर प्रवृत्त करें और धर्म हमारे जीवन का अंग बने ।

देवा वि तं नमं संति, जस्स धम्मे सयामणों ।

(दशवैकालिक अ. 1)

अर्थात् जिसका मन धर्म में लगा रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं ।

धर्म क्या है ?

धर्म की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं । यहाँ उनका उल्लेख न सम्भव है, न अपेक्षित ही । अति संक्षेप में यह कह सकते हैं- **'वत्थु सहावो धम्मो'** अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है । जिस वस्तु का जो स्वभाव है, वही उसका धर्म है । पानी का स्वभाव शीतलता है और अग्नि का स्वभाव उष्णता है । यह उनका धर्म है । मानव का स्वभाव है - मानवीयता, सहिष्णुता, दया, प्रेम, सदाचरण, स्नेह, कर्त्तव्य परायणता, मैत्री भाव, सत्य भाषण आदि यह मानव धर्म है । आचार्य अमितगति के अनुसार-

सत्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वं ।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विद्धातु देवं ॥

अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति मैत्री भाव, गुणी जनों के प्रति प्रमोदभाव, दु:खियों के प्रति करूणाभाव एवं विपरीत वृत्ति वालों के प्रति माध्यस्थ भावे हों ।

धर्म आत्मा की वस्तु है । वह बाह्य आडम्बर में नहीं है ।

अहिंसा धर्म का प्रमुख अंग है । तुलसीदासजी ने रामचरित मानस में लिखा है-

परमधर्म श्रुति विदित अहिंसा ।
पर निन्दा सम अध न गिरिसा ॥

अहिंसा को परमधर्म तथा निन्दा को महान पाप कहा है ।

तुलसीदासजी ने लिखा है-

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान ।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्रान ॥

धर्म में अहिंसा तथा दया का सर्वश्रेष्ठ स्थान है । अहिंसा के अभाव में धर्म संभव नहीं है । दशवैकालिक सूत्र में तो प्रथम गाथा में ही लिखा है-

'धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।

अर्थात् अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म उत्कृष्ट मंगल हैं । किसी अपेक्षा से विनय को भी धर्म का मूल कहा है- 'धम्मस्स विणओ मूलं' । विनय तो जीवन में अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है । तुलसीदासजी ने सेवा को भी धर्म में उच्च स्थान दिया है-

परहित सरिस धरम नहीं भाई ।
पर पीड़ा सम नहीं अधमाई ॥

इस प्रकार दया, अहिंसा, प्रेम, विनय, सत्य, श्रद्धा, तप-संयम आदि धर्म के प्रमुख अंग है । महाभारत की एक आख्यायिका से धर्म का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो सकेगा ।

धर्म का स्वरूप-

एक बार पाँचों पाण्डव वन भ्रमण को गये । वे बहुत दूर जंगल में निकल गये । उन्हें प्यास का अनुभव हुआ । नकुल और सहदेव पानी की खोज में निकल पड़े । बहुत दूर, दोनों भ्राता

एक सुन्दर जलाशय पर पहुँचे, जहाँ पर स्वच्छ-निर्मल जल भरा था। दोनों भ्राताओं ने विचार किया कि अपनी प्यास शान्त कर पात्र में पानी ले चलें । इसी विचार से पानी की ओर हाथ बढ़ाया ही था कि एक महाकाय यक्ष ने उन्हें ललकारा । यक्ष ने कहा कि उसके चार प्रश्नों का उत्तर देकर ही इस जलाशय के जल का स्पर्श किया जा सकता है । नकुल और सहदेव ने यक्ष के प्रश्नों को जानना चाहा, क्योंकि सभी अत्यन्त तीव्र प्यास का अनुभव कर रहे थे । यक्ष ने कहा कि तुम धर्मराज युधिष्ठर के भ्राता हो मेरे प्रश्नों के उत्तर दो-

1. धर्म का जन्म कहाँ होता है ?
2. धर्म का विकास कैसे होता है ?
3. धर्म कहाँ सुरक्षित रहता है ?
4. धर्म का विनाश कैसे होता है ?

नकुल और सहदेव ने चिन्तन किया, लेकिन इन प्रश्नों के उत्तर नहीं दे सके । इसलिए यक्ष ने उन्हें मूर्छित कर दिया । जब काफी समय तक दोनों भ्राता लौटकर नहीं आये तो धर्मराज को चिन्ता हुई और उन्होंने अर्जुन को उनकी खोज में भेजा । खोजते-खोजते अर्जुन भी उसी जलाशय पर जा पहुँचा । दोनों लघु भ्राताओं को मूर्छित पाकर अर्जुन भी विस्मित हुआ । आस-पास कोई व्यक्ति दिखाई नहीं दिया । अर्जुन स्वयं प्यास से व्याकुल था-विचार किया कि जलाशय के जल को छिड़ककर भ्राताओं की मूर्छा दूर करूँ । लेकिन ज्योंहि जल की ओर हाथ बढ़ाया कि यक्ष ने ठहाका लगाया और तत्काल वे ही चार प्रश्न अर्जुन के समक्ष रखे । उत्तर नहीं दे सकने पर यक्ष ने अर्जुन को भी मूर्छित कर दिया । धर्मराज ने भीम को खोज के लिए भेजा । भीम भी जलाशय पर पहुँच कर अपने पूर्व भ्राताओं की तरह मूर्छित हो गया । जब चारों भ्राताओं में से कोई लौटकर नहीं आया तो युधिष्ठर स्वयं चल पड़े । प्यास के मारे कण्ठ अवरुद्ध हो रहा था। धर्मराज थकान एवं प्यास से

आकुल-व्याकुल हो चुके थे, परन्तु क्या करते ? साहस करके धीरे-धीरे उसी मार्ग पर चल कर कठिनाई से उसी जलाशय पर पहुँच गये । धर्मराज युधिष्ठर चारों भाईयों को मूर्छित पड़े देखकर अत्यन्त आश्चर्य चकित हुए और गहन विचार में पड़ गये । यक्ष प्रस्तुत हुआ और घटना सुनाते हुए चारों प्रश्न युधिष्ठर से पूछे और कहा कि यदि उत्तर न मिलेगा तो तुम्हारी भी यही स्थिति होगी जो इन चारों की हुई । धर्मराज ने चिन्तन कर विनम्र शब्दों में यक्ष के प्रश्नों का उत्तर दिया-

1. धर्म सत्य से उत्पन्न होता है । 2. दया और दान से विकसित होता है । 3. क्षमा द्वारा सुरक्षित रहता है । तथा 4. क्रोध करने से धर्म का नाश होता है ।

युधिष्ठर के चारों उत्तर सुनकर यक्ष प्रसन्न हुआ और जलाशय से जल पीने की अनुमति प्रदान की । युधिष्ठर ने चारों भ्राताओं को सचेत करने की प्रार्थना की । यक्ष ने तत्काल वैसा ही किया और पाँचों ने अपनी प्यास बुझाई ।

धर्मराज युधिष्ठर पर यक्ष प्रसन्न था इसलिए उन्होंने यक्ष से निवेदन किया कि इस जलाशय के जल को जनसाधारण के उपयोग के लिए स्वतन्त्र कर दिया जावे । यक्ष को परोपकार का महत्व समझाया । यक्ष ने जलाशय के जल का उपयोग सभी के लिए स्वतन्त्र कर दिया ।

इस उदाहरण से धर्म का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । सत्य, अहिंसा, दया-दान, क्षमा आदि धर्म के प्रमुख अंग हैं । कषाय धर्म को नष्ट करता है । ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे में कहा है-

चत्तारि धम्म दारा, खंति, मुत्ति, अज्जवे, मद्दवे ।

अर्थात् धर्म के चार द्वार हैं- क्षमा, विनय, सरलता और मृदुता ।

पर्वाधिराज पर्युषण के पावन प्रसंग पर धर्म के स्वरूप

समझें और धार्मिक प्रवृत्तियों को अपनाएँ, पापों से बचें और मोक्ष मार्ग का अनुसरण करें। धर्म ही मानव जीवन का सार है। नीति में कहा है-

आहार, निद्रा, भय मैथुनस्य,
सामान्य मेतद् पशुभिः नराणाम्।
धर्मोहितेषाम्धिको विशेषो,
धर्मेणहीनाः पशुभिः समाना ॥

धर्म के अभाव में मानव भी सींग, पूँछ का पशु है। खाना-पीना, भोग-संभोग आदि सभी क्रियाएँ मानव की तरह पशु भी करता है, लेकिन मानव की तरह स्वाध्याय, सामायिक, तप-संयम, प्रभु-भक्ति दान आदि धार्मिक अनुष्ठानों को पशु अपने दैनिक जीवन में नहीं अपना पाता। यही तो प्रमुख अन्तर है मानव और पशु में। कई पशुओं को तो भोजन और आवास की सुविधाएँ सामान्य मानवों की अपेक्षा अधिक उपलब्ध हैं। आज भी विश्व में अनेक ऐसे मानव हैं जिन्हें भोजन भी पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल पाता, वे अत्यन्त कष्टमय जीवन व्यतीत करते हैं। दूसरी ओर ऐसे कई पशु हैं जिन्हें उत्तम प्रकार की सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हैं। कई लोग कुत्ते पालते हैं, जिन्हें खाने को दूध-मलाई एवं उत्तम व्यञ्जन दिये जाते हैं, रहने को सुविधायुक्त भवन होते हैं तथा कार में यात्रा करते हैं। परन्तु मानव जिस प्रकार धर्म क्रियाएँ कर सकता है, उस प्रकार पशु करने में सक्षम नहीं है। देवों से दुर्लभ यह मानव भव मिला है, जिसके द्वारा भव्य जन मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं। शास्त्रों में दस बातों की उपलब्धि दुर्लभ कही है, जिसमें चार बातें तो अत्यन्त दुर्लभ हैं- 1. मानवभव 2. धर्म श्रवण 3. धर्म पर श्रद्धा एवं 4. धर्म का आचरण। भव्य प्राणियों को सभी प्रकार का सुयोग प्राप्त है। यदि प्राप्त दुर्लभ वस्तुओं का सदुपयोग नहीं किया और सुअवसर को खो दिया तो अन्त में पछताना पड़ेगा। जैसा कि एक ब्राह्मणी को पछताना पड़ा। यथा-

समय की पहिचान

किसी नगर में ज्योतिष विद्या के एक महान पंडित रहते थे । उन पर सरस्वती की कृपा थी परन्तु लक्ष्मी की अकृपा । दीन अवस्था और घर में पण्डिताइन चिड़चिड़े और उग्र स्वभाव की थी । गरीबी से तंग आकर उसका स्वभाव और अधिक असंतुलित हो गया था । जबकि पंडितजी का अपना अधिकांश समय पाण्डित्य और पठन-पाठन में व्यतीत होता । आय के स्रोत नहीं थे । इसलिए ब्राह्मणी का असन्तुष्ट रहना एवं ज्योतिष के प्रति अविश्वास होना स्वाभाविक था ।

एक समय पण्डितजी ज्योतिष शास्त्र की पुस्तक पढ़ते-पढ़ते अचानक प्रसन्नता से उछल पड़े और कहने लगे- पण्डिताईन ! बस मिल गया, गुप्त खजाना मिल गया, दरिद्रता दूर हो जायेगी, अब हम मालामाल हो जावेंगे । पत्नी ने व्यंग्य कसा- कोई गुप्त खजाना मिल गया या इस पोथी में स्वर्ण मुद्राएँ, रत्न या कहीं का साम्राज्य मिल गया, सो हमारी निर्धनता दूर हो जावेगी । आखिर क्या नई बात हो गई ? पण्डितजी ने समझाया कि कल ऐसा नक्षत्र आने वाला है कि यदि तू मेरे कहे अनुसार कार्य करे तो मैं मन्त्र विद्या से ज्वार को सच्चे मोतियों में बदल सकता हूँ । ब्राह्मणी ने पहले तो पंडितजी की खूब हँसी उड़ाई, फिर समझाने पर मान गई । पण्डित ने कहा- मैं मन्त्रों का उच्चारण करूँगा, तू चूल्हा जलाकर किसी बड़े बर्तन में पानी गर्म करना । कुछ ज्वार को किसी बर्तन में तैयार रखना । ठीक मध्यान्ह के समय मैं मन्त्रोच्चारण सम्पूर्ण कर 'हूँ' शब्द का उच्चारण करूँगा और तू तत्काल ज्वार के दानों को गर्म पानी में डालकर ढक्कन ढक देना । थोड़ी ही देर में ज्वार के दाने सच्चे मोतियों में बदल जायेंगे । पूरी सावधानी रखना, ठीक समय पर ज्वार पानी में डालना आवश्यक है ।

यह सारी वार्ता पण्डितजी के पास की पड़ोसिन महिला ने ध्यान से सुन ली । महिला चतुर विनयवान, निष्ठावान एवं बुद्धिमान

थी । उसने विचार किया कि कल मुझे वैसा ही करना है जैसा कि पंडितजी ब्राह्मणी को बता रहे थे । दोनों पड़ोस अत्यन्त निकट थे । जिससे वार्तालाप आसानी से सुना जा सकता था । पण्डितजी की बात पर पड़ोसिन को पूरा विश्वास हो गया, लेकिन ब्राह्मणीको विश्वास नहीं हुआ फिर भी वैसा करने को तैयार हो गई, परन्तु घर में ज्वार के दाने नहीं थे, इसलिए वह पड़ौसिन से सेर-सवा सेर ज्वार उधार मांग लाई । दूसरे दिन पण्डित के घर में तैयारी प्रारम्भ हुई । उधर पड़ोसिन ने भी चुपके से सारी प्रक्रिया करने की तैयारी कर ली । पण्डितजी ने ठीक समय (मुहूर्त) में मन्त्रोच्चारण शुरू किया । दोनों घरों में सारी क्रियाएँ एक ही समान चल रही थी । ठीक मध्यान्ह में मन्त्रोच्चारण समाप्त होते ही पण्डितजी ने 'हूँ' शब्द का उच्चारण जोरदार आवाज में किया । पण्डिताईन पण्डितजी का मुँह ताक रही थी और पण्डितजी से प्रश्नोत्तर करने लगी- क्या ज्वार सभी एक साथ डाल दूँ या थोड़ी-थोड़ी डालूँ ? क्या मन्त्र पूरे हो गये ? क्या समय हो गया? आदि आदि । समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता, समय निकल चुका था । उधर पड़ौसिन ने ठीक समय पर अपना कार्य कर लिया और ब्राह्मणी ज्वार समय पर पानी में नहीं डाल सकी । पण्डितजी माथा ठोक कर बैठ गये । अपने दुर्भाग्य को कोसते हुए ब्राह्मणी से कहने लगे- मूर्ख अब भी शीघ्रता कर ज्वार डालकर ढक्कन लगा दे । ब्राह्मणी ने ज्वार वर्तन में डालकर ढक्कन लगा दिया । थोड़ी देर बाद जब दोनों परिवारों में गर्म पानी के बर्तनों के ढक्कनों को हटाया गया तो ब्राह्मणी के बर्तन में ज्वार थी और पड़ोसिन के बर्तन में चमचमाते सच्चे मोती थे । ब्राह्मणी ने पण्डितजी को खूब कोसा और उपालम्भ दिया- 'तुम सदैव मुझे मूर्ख बनाते हो । भला क्या कभी ज्वार के भी मोती वन सकते हैं? क्यों झूँठ-मूठ वातें वनाते हो ? पण्डितजी का मुखमण्डल उदास था । वे विचार मग्न थे ।

उधर पड़ोसिन ने सोचा कि पण्डितजी की कृपा से मुझे इतने ढेर सारे सच्चे बहुमूल्य मोती प्राप्त हुए हैं अतः थोड़े मोती

इनके घर पर भी पहुँचा दूँ। ऐसा विचार कर पड़ोसिन एक बड़े कटोरे में मोती भर कर पण्डितजी के घर पहुँची। पड़ोसिन को कटोरा लिए आते देखकर पण्डिताइन ने सोचा कि कोई मिठाई लेकर आई होगी, अतः उसका स्वागत करते हुए कहा- 'आप क्यों कष्ट करते हैं, हमारे यहाँ तो आज ज्वार की गुगली बनाई है।' लेकिन पड़ोसिन ने मोतियों का कटोरा ब्राह्मणी के थाल में खाली करते हुए कहा कि पण्डितजी की कृपा से आज मेरे घर में ढेर सारे सच्चे मोती बन गये हैं। पड़ोसिन ने संक्षेप में सारी घटना सुना दी। ब्राह्मणी को अब अपनी असावधानी का पश्चाताप हुआ। उसने पण्डितजी को कल फिर इस क्रिया को दोहराने के लिए कहा। पण्डितजी ने कहा- 'ऐसे अवसार बार-बार नहीं आते। हजारों वर्षों में कभी एक बार ऐसा सुअवसर मिलता है।' कहा भी है-

'अब पछताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत.'

ज्ञानियों ने यह प्रसंग भूले भटके प्राणियों को समझाने के लिए बताया है। दृष्टान्त के मूल तत्व को ग्रहण करें।

वास्तव में यह मानव जीवन दुर्लभता से प्राप्त हुआ है। इस जीवन में हम मोक्ष मार्ग की आराधना कर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो सकते हैं। यदि यह अवसर चूक गये तो फिर पछताना पड़ेगा।

यह महापर्व पर्युषण एक सुनहरा अवसर है। यही ज्वार को सच्चे मोती बनाने का समय है। हम अपने जीवन को निखारें। अवसर को हाथ से न जाने दें अन्यथा ब्राह्मणी के समान पछताना पड़ेगा। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है-

बड़े भाग मानुष तन पावा,
सुर दुर्लभ सब ग्रन्थहिं गावा।

भव्य प्राणी अपने जीवन को उन्नत बनाकर समता पथ पर लायें, धर्म रूपी नैया में बैठकर संसार सागर को पार करें। आगमों में कहा है-

'एक्को हु धम्मो ताणं' (उत्तराध्ययन सूत्र 14 गा 40)

अर्थात् केवल धर्म ही संसार सागर से तिराने वाला है । मानव भव, जिन धर्म, शास्त्र श्रवण, पर्युषण पर्व आदि का सुयोग प्राप्त हुआ है उसे व्यर्थ यूँ ही नहीं खोना है । आज के मानव का जीवन ज्वार की तरह असंस्कृत है, अल्प विकसित है, अपूर्ण है । पर्युषण पर्व के पावन प्रसंग पर धर्म आराधना द्वारा इसे सुसंस्कृत बना सकते हैं, मोक्ष मार्ग पर अग्रसर कर सकते हैं, उज्ज्वल मोती स्वरूप बना सकते हैं । धर्म का महत्व बताते हुए किसी अंग्रेज कवि ने लिखा है-

Religion what treasures untold,
Reside in that heavenly world,
More previus than silver and gold,
Or all this earth can afford.

अर्थात् धर्म वह बहुमूल्य कोष है जिसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता । धर्म विश्व की बहुमूल्य वस्तुओं से भी अधिकाधिक बहुमूल्य है ।

वास्तव में धर्म की तुलना सांसारिक पदार्थों से नहीं की जा सकती । धर्म तो अलौकिक है, अद्वितीय है, लेकिन हमारी दृष्टि में धर्म की अपेक्षा धन का महत्व अधिक है । जिन्हें धर्म का सच्चा रसास्वादन हो गया, जिन्होंने धर्म के महत्व को समझ लिया, उनके लिए तो धन तुच्छ, निकृष्टतम एवं महत्वहीन वस्तु हैं ।

धर्म का स्वाद-

एक बार एक श्रेष्ठी पुत्र अपने ससुराल जा रहा था । पैदल ही चल रहा था क्योंकि आजकल जैसे साधन उपलब्ध नहीं थे । सोचता जा रहा था कि क्या ही अच्छा हो कोई बैलगाड़ी अथवा घोड़ा मिल जाय तो थकान नहीं आयेगी, ससुराल में सम्मान बना

रहेगा और कहेंगे कि दामाद वाहन से आये हैं- ठोकरे खाते घूमते-घामते नहीं आये ।

संयोगवश गाँव से थोड़ी ही दूर एक गाड़ी मिल गई, जो उसी गाँव की ओर जा रही थी । गाड़ी खाली थी । गाड़ीवान से श्रेष्ठीपुत्र ने कहा- मुझे भी ले चलो । गाड़ीवान को श्रेष्ठीपुत्र का ससुराल जाना अच्छा लगा क्योंकि उसने सुन रखा था कि जमाई ससुराल आता है तो श्रेष्ठियों के वहाँ अच्छे-अच्छे मिष्ठान बनते हैं। उसने इस शर्त के साथ श्रेष्ठीपुत्र को गाड़ी में बिठा लिया कि मुझे भी अपने साथ भोजन कराओगे । गाड़ीवान निर्धन कृषक था, उसने अपने जीवन में मिष्ठान के नाम पर एक दो-बार 'गुड़राब' खायी थी, जिसका स्मरण करते ही उसके मुँह में पानी भर आया । अन्य कोई मिष्ठान खाने का प्रसंग ही नहीं आया इसलिए उसकी दृष्टि में संसार में सर्वोत्तम स्वादिष्ट व्यंजन 'गुड़राब' ही था । उसने श्रेष्ठीपुत्र से 'गुड़राब' खिलाने का वायदा करवा लिया । बात पक्की हो गई । संध्या होते-होते निर्धारित स्थान पर वे पहुँच गये ।

ससुराल में अच्छे से अच्छे व्यंजन बनाने की तैयारियाँ की जा रही थी । श्रेष्ठीपुत्र ने सोचा यहाँ अनेक प्रकार की मिठाईयाँ बन रही हैं, ऐसे वक्त 'गुड़राब' जैसी तुच्छ वस्तु के लिए कहता तो अपमानजनक बात होगी । वह चुप रहकर सोचने लगा कि गाड़ीवान अच्छी मिठाईयाँ खावेगा तो गुड़राब का स्वाद अपने आप भूल जायेगा । इसी विश्वास से गाड़ीवान को ढाढस दिया कि आतुर मत हो, तुझे गुड़राब मिल जावेगी ।

थोड़ी देर बाद ही भोजन परोसा गया, थालियों में अनेक व्यंजन एवं मिठाईयाँ थीं । गाड़ीवान सामने ही कुछ दूरी पर बैठा था । सभी कटोरियों में ढूँढने लगा, अंगुली लगा-लगाकर चखने लगा, लेकिन गुड़राब नहीं होने से बैचेन होकर श्रेष्ठीपुत्र को इशारे से गुड़राब के लिए पूछने लगा । श्रेष्ठीपुत्र ने गुलाबजामुन दिखाते हुए इशारे से कहा- इसे खाओ । गाड़ीवान ने सिर हिलाते हुए ना

कर दी और धीरे से कहा- ये ऊँट के मींगने नहीं खाऊँगा, मुझे तो गुड़राब ही चाहिये । श्रेष्ठीपुत्र ने समझाया कि अच्छा भाई गुड़राब कल खिला दूँगा ।

'नहीं' आज ही, अभी खाऊँगा गुड़राब' गाड़ीवान ने जोर से कहा । बात बिगड़ती देख मौका पाकर श्रेष्ठीपुत्र ने जबरदस्ती एक गुलाब जामुन गाड़ीवान के मुँह में डाल दिया तो उसने थू-थू करके थूँक दिया और कहा- ऊँट के मींगने मैं नहीं खाऊँगा । इसके साथ ही दूसरा गुलाब जामुन उसके मुँह में और दे दिया गया, इस बार थुकने के साथ ही अच्छा स्वाद उसे आ गया तो तीसरा उसने स्वयं मुँह में रख लिया । उसके आश्चर्य का पारावार न रहा । अरे ! यह तो 'गुड़राब' से भी ज्यादा स्वादिष्ट और मीठे हैं ।

ठीक इसी प्रकार आज के व्यक्तियों को अभी तक धर्म का स्वाद नहीं आया, इसलिए वे धन को ही सब कुछ समझते हैं । जब गाड़ीवान की तरह मिष्ठान के स्वाद को चख लेंगे, यानि धर्म के सम्यग् स्वरूप को समझ लेंगे तो उनकी दृष्टि भी वदल जावेगी ।

श्रमण भगवान् महावीर ने धर्म को दो प्रकार का कहा है-

'दुविहे धम्मे पन्नते,
सुयधम्मे चेव चरित्त धम्मे चेव ।'

(ठाणांग सूत्र 2रा ठाणा)

अर्थात् 1. श्रुत धर्म और 2. चारित्र धर्म । जिनदेव तीर्थङ्कर, गणधर आदि द्वारा प्ररूपित ज्ञान एवं सम्यग् श्रद्धान-यह श्रुत धर्म है तथा उनके अनुरूप श्रावक और साधुओं द्वारा आचरण किया जाने वाला व्रतानुष्ठान एवं तपानुष्ठान चारित्र धर्म है ।

चारित्र धर्म के दो भेद हैं-

1. आगार धर्म और 2. अणगार धर्म ।

आगार धर्म के अनुसार गृहस्थ जीवन में रहता हुआ श्रावक बारह अणुव्रतों का पालन करता है तथा जो भव्य प्राणी संसार का त्याग कर पाँच महाव्रत, आठ प्रवचन माता का पूर्ण रूपेण पालन करते हैं वे अणगार धर्म को जीवन में अपनाते हैं । आगार धर्म अणगार धर्म की अपेक्षा सरल एवं आसान है । अणगार धर्म अत्यन्त दुष्कर, कठिन एवं तलवार की धार पर चलने से भी अधिक कठिन है ।

इस प्रकार पर्युषण पर्व के प्रथम दिवस पर यह चिन्तन-मनन करें कि धर्म व्यक्ति के जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग बने । धर्म के द्वारा ही इहलोक और परलोक सुधारा जा सकता है । प्रभु-प्रार्थना भी धर्म क्रिया का आवश्यक अंग है । प्रार्थना की कड़ियों में कवि ने भी यही कहा है कि यह प्रार्थना संसार सागर से तिराने वाली है ।

इस पावन अवसर पर हम धर्म के महत्व को समझें, अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार जीवन में उतारें, प्रभु की शरण ग्रहण करें तथा मोक्ष मार्ग पर अग्रसर हों । ज्ञानियों का कथन है- धर्म में प्रवृत्ति करो, प्रतिक्षण प्रभु को स्मरण करो । किसी कवि ने भी कहा है-

साँस साँस पर हरि भजो, वृथा साँस मत खोय ।
ना जाने या साँस को, आवत होय न होय ।

यदि आप वर्ष भर धार्मिक अनुष्ठान न करे सकें तो कम से कम इन आठ दिवस में तो धर्म का पुरुषार्थ करें । पद्म प्रभु की पावन प्रार्थना के माध्यम से संसार परित करने का प्रयत्न करें ।

ॐ नमोऽर्हन्तो ऋषभो वा, ॐ ऋषभं पवित्रम् ।

भावार्थ- अरिहन्त (अर्हन्त) ऋषभदेव को नमस्कार है, वे पवित्र हैं ।

(यजुर्वेद अ-25 मन्त्र 16)

ज्ञान–एक विवेचन

ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है । ज्ञान, अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर कर आत्मा को सम्यग् मार्ग दिखाता है । ज्ञान का प्रकाश भौतिक प्रकाश से अत्यधिक प्रकाशमान है । ज्ञान आत्मा की महान शक्ति है, निर्मल ज्योति है, अखण्ड प्रकाश पुंज है । ज्ञान जीवन है एवं अज्ञान मृत्यु है, ज्ञान ज्योति है और अज्ञान अन्धकार है । ज्ञान मानव जीवन का सार है।

श्री आदीश्वर स्वामी हो,
प्रणमुं सिरनामी तुम भणी ।
प्रभु अन्तरयामी आप,
मो पर म्हेर करीजे हो,
मेटीजे चिन्ता मन तणी ।
म्हारा काटो पुरा कृत पाप,
श्री आदीश्वर स्वामी हो ।

प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव की यह प्रार्थना अध्यात्म योगी श्री विनयचंदजी ने की है । कवि कहता है कि प्रभु मेरे पूर्व कृत पापों को नष्ट कर मेरी चिन्ता दूर करो । आप अन्तर्यामी हैं । मुझ पर कृपा करो । मैं आपके पवित्र पावन चरणों में अपना मस्तक नमाता हूँ । प्रभु की प्रार्थना करना जीवन का महत्वपूर्ण अंग है । प्रार्थना के माध्यम से जीवन का वेग सही दिशा की ओर प्रवाहित होता है । प्रार्थना से जीवन में आध्यात्मिक शक्ति का संचार होता है । प्रार्थना दैनिक जीवन का आवश्यक अंग होना चाहिये ।

अपने स्वरूप को पहचानो–

आज पर्युषण पर्व का दूसरा दिन है । कल पर्युषण पर्व के महत्व का चिन्तन मानव, जीवन के महत्व पर विचार तथा धर्म की आवश्यकता को समझने का प्रयास किया गया था । पावन पर्व के ये आठ दिवस आत्मा को जगाने, कर्मों को परास्त करने की प्रेरणा देते हैं । आत्मा के अभ्युदय का एक सुनहरा, अद्वितीय अवसर इस पर्व के रूप में प्राप्त हुआ है । आत्मा को जागृत करने का एक स्वर्ण अवसर आया है । प्रत्येक भव्य का कर्तव्य है कि प्राप्त सुअवसर का लाभ उठाएँ, आत्मा की निर्मल ज्योत्सना को प्रस्फुटित करें, इसे परमात्मा के मार्ग पर अग्रसर करें, आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बनने का उपाय करें । आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है । आवश्यकता है उसे समझने और जगाने की । आत्मा में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र है, लेकिन यह आत्मा अपने

स्वरूप को भूल चुका है । यह पर्व उसे याद दिलाने, सोये हुए सिंहत्व को जगाने तथा आत्मज्योति को आलोकित करने आया है ।

सिंहत्व को जगाओ-

एक बार किसी वन में सिंहनी ने दो बच्चों को जन्म दिया । बच्चों को जन्म देन के तुरन्त बाद सिंहनी भोजन की तलाश में निकल गई । संयोगवश उधर से कुछ कृषक निकले । उन्होंने एक बच्चे को उठा लिया और अपने साथ नगर में ले आये। इस बच्चे को बकरियों का दूध पिलाकर बड़ा किया गया । यह बच्चा भेड़ों और बकरियों के बीच रहता था, उन्हीं के साथ जंगल में जाता उन्हीं की तरह सारा जीवन क्रम चल रहा था । बच्चा अपने आपको इन भेड़ों और बकरियों के समान ही समझता था । बकरियों को भी इस बच्चे से कोई भय नहीं था । धीरे-धीरे बच्चा जब बड़ा हो गया तब एक दिन संयोग से जंगल में, पर्वत की तलहटी में एक भयंकर आवाज सुनी । आवाज हृदय दहलाने वाली थी । सभी बकरियाँ भाग खड़ी हुई । उन्होंने नगर का रास्ता लिया । यह बच्चा भी बकरियों को भागते देखकर उनके साथ भागने लगा । लेकिन भागते-भागते इसने मुड़ कर देखा एवं यह जानना चाहा कि किस आकस्मिक भय के कारण सभी भयभीत हुए हैं । वच्चे ने देखा कि पर्वत शिखर पर एक विशालकाय सुनहरे रंग का एक विचित्र पशु है जिसकी लम्बी पूँछ मस्तक को छू रही है, बड़ी-वड़ी मूँछे हैं । मुँह में नुकीले दाँत हैं । इसी पशु की आवाज से सारा वन गूँज उठा है । इस विचित्र प्राणी को बकरियों के वीच रहने वाले शेर ने ठीक से देखा और पुनः वकरियों में जा मिला । यह विचित्र प्राणी और कोई नहीं इसी बच्चे का दूसरा भ्राता जंगल का राजा था । वास्तव में दोनों समान थे परन्तु दोनों में केवल संस्कारों का अन्तर था । एक वकरियों के साथ रह रहा था तो दूसरा वन में स्वतन्त्रता पूर्वक विचरता था । बकरियों के साथ भागता हुआ वह शेर जंगल से दूर नगर के समीप आ पहुँचा । मार्ग में एक नाले पर सभी वकरियों ने

पानी पीया । उस बच्चे ने भी पानी पीया । नाले के स्वच्छ पानी में उसने अपना प्रतिबिम्ब देखा । उसे पर्वत शिखर पर देखे उस प्राणी की स्मृति हो आई । उसने अनुभव किया कि आकृति रूप-रंग व सम्पूर्ण शारीरिक रचना में वो दोनों समान हैं । प्रयत्न करने पर वह भी वैसा ही सिंहनाद करने में सफल हो गया । सिंहनाद सुनकर बकरियाँ पुनः भाग खड़ी हुई । आज जीवन में पहली बार इस शेर ने अनुभव किया कि मैं उन बकरियों से भिन्न हूँ । उसका सिंहत्व जागृत हो गया । अब उसने भी वन का मार्ग ग्रहण किया एवं स्वतन्त्र हो गया । स्व स्वरूप में स्थित हो गया ।

यह तो दृष्टान्त है । इससे यह समझना है कि प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति है, यदि उस शक्ति को जगायें तो जीवन बदल सकता है । भव्य आत्मा सिद्ध, बुद्ध मुक्त बन सकती है । ज्ञानियों ने कहा है-

सिद्धा जैसो जीव है, जीव सोहि सिद्ध होय ।
पराक्रर्म मेल का आन्तरा, समझे बिरला कोय ॥

दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है-

सिद्ध समान यह जीव है, करे कर्म चकचूर ।
प्राक्रम फोड़े अन्तर का, तो मुक्ति कितनी दूर ॥

वास्तव में हमारी आत्मा और सिद्धों की आत्मा में अष्ट कर्मों का ही तो अन्तर है । हमारी आत्मा अष्ट कर्मों से युक्त है और सिद्ध आत्मा कर्म रहित है । जिन आत्माओं ने अपने सोये हुए सिंहत्व को जागृत किया है वे सिद्ध-मुक्त हो गये है । कवि ने भी कविता के माध्यम से कितने उत्तम भाव व्यक्त किये हैं -

नर नारायण बन जाएगा,
जो आतम ज्योति जगायेगा । नर...

पापों के बन्धन टूटेंगे, विषयों के नाते छूटेंगे ।
जो सोया सिंह जगायेगा, नर नारायण... ॥१॥

स्वरूप को भूल चुका है । यह पर्व उसे याद दिलाने, सोये हुए सिंहत्व को जगाने तथा आत्मज्योति को आलोकित करने आया है ।

सिंहत्व को जगाओ-

एक बार किसी वन में सिंहनी ने दो बच्चों को जन्म दिया । बच्चों को जन्म देन के तुरन्त बाद सिंहनी भोजन की तलाश में निकल गई । संयोगवश उधर से कुछ कृषक निकले । उन्होंने एक बच्चे को उठा लिया और अपने साथ नगर में ले आये। इस बच्चे को बकरियों का दूध पिलाकर बड़ा किया गया । यह बच्चा भेड़ों और बकरियों के बीच रहता था, उन्हीं के साथ जंगल में जाता उन्हीं की तरह सारा जीवन क्रम चल रहा था । बच्चा अपने आपको इन भेड़ों और बकरियों के समान ही समझता था । बकरियों को भी इस बच्चे से कोई भय नहीं था । धीरे-धीरे बच्चा जब बड़ा हो गया तब एक दिन संयोग से जंगल में, पर्वत की तलहटी में एक भयंकर आवाज सुनी । आवाज हृदय दहलाने वाली थी । सभी बकरियाँ भाग खड़ी हुई । उन्होंने नगर का रास्ता लिया । यह बच्चा भी बकरियों को भागते देखकर उनके साथ भागने लगा । लेकिन भागते-भागते इसने मुड़ कर देखा एवं यह जानना चाहा कि किस आकस्मिक भय के कारण सभी भयभीत हुए हैं । बच्चे ने देखा कि पर्वत शिखर पर एक विशालकाय सुनहरे रंग का एक विचित्र पशु है जिसकी लम्बी पूँछ मस्तक को छू रही है, बड़ी-बड़ी मूँछे हैं । मुँह में नुकीले दाँत हैं । इसी पशु की आवाज से सारा वन गूँज उठा है । इस विचित्र प्राणी को बकरियों के बीच रहने वाले शेर ने ठीक से देखा और पुनः बकरियों में जा मिला । यह विचित्र प्राणी और कोई नहीं इसी बच्चे का दूसरा भ्राता जंगल का राजा था । वास्तव में दोनों समान थे परन्तु दोनों में केवल संस्कारों का अन्तर था । एक बकरियों के साथ रह रहा था तो दूसरा वन में स्वतन्त्रता पूर्वक विचरता था । बकरियों के साथ भागता हुआ वह शेर जंगल से दूर नगर के समीप आ पहुँचा । मार्ग में एक नाले पर सभी बकरियों ने

पानी पीया । उस बच्चे ने भी पानी पीया । नाले के स्वच्छ पानी में उसने अपना प्रतिबिम्ब देखा । उसे पर्वत शिखर पर देखे उस प्राणी की स्मृति हो आई । उसने अनुभव किया कि आकृति रूप-रंग व सम्पूर्ण शारीरिक रचना में वो दोनों समान हैं । प्रयत्न करने पर वह भी वैसा ही सिंहनाद करने में सफल हो गया । सिंहनाद सुनकर बकरियाँ पुनः भाग खड़ी हुई । आज जीवन में पहली बार इस शेर ने अनुभव किया कि मैं उन बकरियों से भिन्न हूँ । उसका सिंहत्व जागृत हो गया । अब उसने भी वन का मार्ग ग्रहण किया एवं स्वतन्त्र हो गया । स्व स्वरूप में स्थित हो गया ।

यह तो दृष्टान्त है । इससे यह समझना है कि प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति है, यदि उस शक्ति को जगायें तो जीवन बदल सकता है । भव्य आत्मा सिद्ध, बुद्ध मुक्त बन सकती है । ज्ञानियों ने कहा है-

सिद्धा जैसो जीव है, जीव सोहि सिद्ध होय ।
पराक्रर्म मेल का आन्तरा, समझे बिरला कोय ॥

दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है-

सिद्ध समान यह जीव है, करे कर्म चकचूर ।
प्राक्रम फोड़े अन्तर का, तो मुक्ति कितनी दूर ॥

वास्तव में हमारी आत्मा और सिद्धों की आत्मा में अष्ट कर्मों का ही तो अन्तर है । हमारी आत्मा अष्ट कर्मों से युक्त है और सिद्ध आत्मा कर्म रहित है । जिन आत्माओं ने अपने सोये हुए सिंहत्व को जागृत किया है वे सिद्ध-मुक्त हो गये है । कवि ने भी कविता के माध्यम से कितने उत्तम भाव व्यक्त किये हैं -

नर नारायण बन जाएगा,
जो आतम ज्योति जगायेगा । नर...

पापों के बन्धन टूटेंगे, विषयों के नाते छूटेंगे ।
जो सोया सिंह जगायेगा, नर नारायण... ॥१॥

घट-घट में बैठा एक ईश्वर है, जाने माने ज्ञानेश्वर है ।
सब जनम मरण मिट जावेगा, नर नारायण... ॥२॥

बादल के पीछे दिनकर है, कर्मों के पीछे ईश्वर है ।
जो सर्व ही ज्योति जगाएगा, नर नारायण.... ॥३॥

बन्धुओं ! यह पावन पर्युषण पर्व नर से नारायण बनने का, आत्मा से परमात्मा बनने का संदेश दे रहा है, आत्म-ज्योति को विकसित करने की प्रेरणा दे रहा है ।

ज्ञान का महत्व-

आज सम्यग् ज्ञान के विषय में विचार करना है । ज्ञान का महत्व सभी धर्मशास्त्रों में स्वीकार किया गया है । ज्ञान विकास की प्रथम सीढ़ी है । ज्ञान सर्व प्रकाशक है । ज्ञान से ही तो वास्तविक बोध सम्भव है । शास्त्रों में ज्ञान की महिमा बताते हुए कहा है-

नाणं सम्पन्नाए जीवे,
सव्व भावाहिगमं जणयई ।

(उत्तराध्ययन 29 गा. 59)

ज्ञान सम्पन्नता एवं इसकी वृद्धि करने से आत्मा विश्व व्यापी छः द्रव्यों और उनकी पर्यायों को तथा उनके गुण धर्मों को जान सकता है । ज्ञान और दर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक के अभाव में दूसरा सम्भव नहीं है ।

ज्ञान स्व-पर प्रकाशक-

ज्ञान, अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर कर आत्मा को सच्चा मार्ग दिखाता है । ज्ञान का प्रकाश बिजली, चन्द्र एवं सूर्य के प्रकाश से भी अधिक प्रकाशमान, अधिक उपयोगी, अधिक महत्वपूर्ण है । ज्ञान रूपी प्रकाश के अभाव में बिजली, चन्द्र या सूर्य का प्रकाश भी सार्थक नहीं होता । ये भौतिक प्रकाश केवल परिमित क्षेत्र एवं काल में ही प्रकाशित होते हैं, लेकिन ज्ञान रूपी प्रकाश

सदाकाल एवं सर्वत्र प्रकाशित होता है । दीपक बाहर में प्रकाश करता है, परन्तु स्वयं के तले में अन्धकार रखता है लेकिन ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है । ज्ञान आत्मा की महान शक्ति है, निर्मल ज्योति है, अखण्ड प्रकाश पुञ्ज है । अन्धकार से प्रकाश की ओर अग्रसर होने के लिए नीति में भी कहा है-

असतो मो सद्‌गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्मा अमृतगमय ।

यह अन्धकार क्या है ? अज्ञान ही अन्धकार है । ज्ञान प्रकाश है । ज्ञान की महिमा बताते हुए कहा है-

तमो धुनीते कुरुते प्रकाशं, शामं विधिते विनिहंति कोयं ।
तनोति धर्म विधुनेति पापं, ज्ञानं न किं किं कुरुते नराणम् ॥

अर्थात् ज्ञान मनुष्य का क्या-क्या कार्य नहीं करता ? अन्धकार नष्ट करता है, शक्ति देता है, क्रोध नष्ट करता है, धर्म का विकास कर पाप को नष्ट करता है । इस प्रकार सभी कार्य करता है ।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने दर्शन पाहुड में लिखा है-
'णाणं णरस्य सारो'
अर्थात् ज्ञान मानव जीवन का सार है ।

क्रिया से पूर्व ज्ञान आवश्यक है-

दशवैकालिक सूत्र में ज्ञान का महत्व बताते हुए कहा गया है-

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्व संजए ।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाही सेय पावगं ॥

अज्ञानी क्या कर सकता है ? किस प्रकार पाप से बच सकता है ? इसलिए क्रिया से पूर्व ज्ञान आवश्यक है । यदि

जीव-अजीव, आत्मा-पुद्‌गल, स्व-पर का ज्ञान ही नहीं होगा तो जीवों पर दया कैसे की जा सकती है, उनकी रक्षा कैसे की जा सकती है, मोक्ष मार्ग पर कैसे आगे बढ़ा जा सकता है ? इसलिए चरित्र से पूर्व ज्ञान होना आवश्यक है ।

धर्म-धर्म सब ही करे, धर्म न जाने कोय ।
जाति न जाने जीव की, धर्म किस विध होय ॥

ज्ञान के अभाव में धर्म कैसे सम्भव है, दया कैसे सम्भव है ? यही तो कारण है कि संसार के कुछ दर्शन, कुछ धर्म, वास्तविक तत्व को न समझने के कारण अधार्मिक क्रियाओं में भी धर्म मान लेते हैं । वे जीवों के विभिन्न स्वरूपों को न समझने के कारण उनकी हिंसा से बच नहीं पाते हैं । जैन धर्म की अहिंसा अत्यन्त सूक्ष्म है । जैन दर्शन पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं वनस्पति में भी जीव मानता है लेकिन जीव का ऐसा सूक्ष्म विवेचन अन्य दर्शनों में नहीं मिलता । इनकी जानकारी ज्ञान द्वारा ही सम्भव है । ज्ञान द्वारा ही हिंसा से बच सकेंगे । यदि ज्ञान नहीं हो तो चरित्र भी नहीं हो सकता । यथा-

नाणेण विना न हुंति चरण गुणा (उत्तरा. 28)

किसी संस्कृत के विद्वान ने तो ज्ञान को समस्त सांसारिक वस्तुओं से बढ़कर बताया है-

न ज्ञान तुल्य किल कल्प वृक्षो,
न ज्ञान तुल्या किल कामधेनुः ।
न ज्ञान तुल्या किल काम कुम्भो,
ज्ञानेन चिन्तामणि रप्य तुल्यः ॥

अर्थात् कल्पवृक्ष, कामधेनु, कामकुम्भ और चिन्तामणि रत्न से भी बढ़कर ज्ञान का महत्व है । ये ज्ञान के समक्ष तुच्छ हैं ।

वास्तव में ज्ञान का जीवन में बहुत महत्व है । ज्ञान से भय का भी नाश होता है । ज्ञान के समान कोई और दीपक नहीं है ।

नास्ति ज्ञान समो दीपः सर्व अन्धकार नाशने ।

मोक्ष मार्ग का ज्ञान एक आवश्यक अंग है ।

कोटि जन्म तप तवे, ज्ञान बिन कर्म झरे जे ।
ज्ञानी के क्षण में त्रिगुप्ति ते सहज ठरे ते ॥

अर्थात् अज्ञानी व्यक्ति करोड़ों जन्मों तक कठोर तप भी करे लेकिन वह लाभदायक नहीं होता और ज्ञानी का अल्प तप भी मुक्ति में सहायक होता है ।

इसलिए ज्ञान महाप्रकाश है, अज्ञान महान् अन्धकार है, ज्ञान मुक्ति का साधन है, अज्ञान परिभ्रमण का कारण है । हिताहित का बोध कराने वाला ज्ञान ही है । दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्याय में कहा है-

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ॥

अर्थात् पाप और कल्याण को सुनने से जाना जा सकता है, अतः जो श्रेष्ठ हो उसी में प्रवृत्ति करनी चाहिये ।

इसी सूत्र में आगे कहा गया है-

जो जीवे वि न याणई, अजीवे वि न याणेई ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं से नाहीई संजमं ॥

अर्थात् जीव और अजीव का ज्ञान किये बिना संयम का पालन कैसे हो सकता है । अंग्रेजी में कहावत है-

Knowledge is Power.

'ज्ञान शक्ति है ।'

अतः कवि प्रभु से प्रार्थना करता है-

Oh God ! thee I Pray

Increase My knowledge
Day by day.

हे प्रभु मैं तुझसे प्रार्थना करता हूँ
कि मेरा ज्ञान प्रतिदिन विकसित हो ।

ज्ञान सम्यग् हो-

यहाँ ज्ञान के महत्व को संक्षेप में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है । लेकिन ज्ञान कैसा हो ? इस बारे में जब हम चिन्तन करते हैं तो पाते हैं कि आधुनिक युग में ज्ञान का विपुल विकास हुआ है । मानव चन्द्रलोक में पहुँचने की चर्चा करता है, पक्षियों की तरह स्वतन्त्र रूप से आकाश में द्रुत गति से उड़ता है, घर बैठे-बैठे दूर समुद्र पार व्यक्तियों की चर्चाएँ सुनता है, टेलिविजन पर उन्हें देखता भी है और यहाँ तक कि कुछ क्षणों में विश्व की सम्पूर्ण सृष्टि को नष्ट करने का भी दम्भ भरता है । पर क्या आप इसे ज्ञान का विकास कहेंगे ? जहाँ विनाश की योजनाएँ बनती हैं वह तो अज्ञान है, मिथ्याज्ञान है । केवल पोथियों का ज्ञान जिससे आप धन कमाना, दूसरों पर अधिकार करना, छल-कपट करना, शोषण करना सीख सकते हैं, पर ज्ञान का यह स्वरूप नहीं है । ऐसे ज्ञान से आत्मा को कोई लाभ होने वाला नहीं है । यह तो आत्मा के पतन का कारण है, गहरे गर्त में डालने वाला तथा भव भ्रमण में वृद्धि करने वाला है । मैं जिस ज्ञान की चर्चा करना चाहता हूँ वह इससे सर्वथा भिन्न है । वह तो आत्मा को उज्ज्वल बनाने वाला है, कल्याणकारी है, आत्मोत्थान का कारण है, आत्मा को तिराने वाला है । वह ज्ञान है- सम्यग् ज्ञान अर्थात् सच्चा ज्ञान ।

सच्चा ज्ञान वही हो सकता है जो आत्मा को भव भ्रमण से बचावे और मोक्ष मार्ग पर अग्रसर करे । कहा भी है-

सा विद्या या विमुक्तिये ।

विद्या वही है जो मुक्ति का कारण हो । ज्ञान बन्धन से मुक्त

करता है, बन्धन काटता है, नौका की तरह संसार सागर से तिरने में सहायक होता है। एक पुरानी कथा प्रचलित है-

सच्चे ज्ञान की पहचान

एक बार पुस्तकीय ज्ञान के अभिमानी किसी पण्डित को नौका द्वारा नदी पार करने का अवसर प्राप्त हुआ। नाविक और पण्डितजी दोनों को लेकर नाव नदी में अपनी गति से चल रही थी। मार्ग में पण्डितजी ने नाविक से पूछा- 'क्या तुम ज्योतिष विद्या के जानकार हो ?' सहज भाव से नाविक ने उत्तर दिया- 'महाशयजी ! मैं ज्योतिष विद्या नहीं जानता।'

पण्डित ने गर्व से कहा- 'नाविक यदि तुम ज्योतिष विद्या नहीं जानते तो तुम्हारी चौथाई जिन्दगी पानी में गई।

नाविक मौन था। पण्डितजी ने पुनः पूछा- 'तुम ज्योतिष नहीं जानते तो भाषा विज्ञान और व्याकरण आदि का अध्ययन तो किया होगा ?'

नाविक ने 'भाषा विज्ञान' 'व्याकरण' आदि शब्द जीवन में पहली बार सुने थे। अतः सिर हिलाते हुए कहा- 'नहीं श्रीमान् मैं कुछ नहीं जानता। पण्डितजी ने दम्भ की मुद्र में कहा- तेरी आधी जिन्दगी पानी में डूब गई। नाविक फिर भी मौन था और दोनों हाथों से पतवार चला कर नाव को आगे बढ़ा रहा था

पण्डितजी ने अगला प्रश्न पूछा- 'अच्छा, तूने दर्शन शास्त्र तो पढ़ा ही होगा ?'

नाविक ने उत्तर दिया- 'मैंने आपको पहले ही कहा है मैं कुछ भी नहीं जानता। मैं तो नाव द्वारा यात्रियों को नदी पार कराना जानता हूँ, नाव चलाना जानता हूँ और कुछ नहीं जानता।

पण्डितजी ने मुँह बनाते हुए कहा- 'अरे नाविक ! तुने मानव तन पाकर जीवन व्यर्थ में खो दिया। तु ज्योतिष नहीं

जानता, भाषा विज्ञान नहीं जानता, दर्शन शास्त्र
तेरी पौन जिन्दगी तो पानी में गई ।'

नाविक फिर भी मौन था । नाव अपनी ग
रही थी कि अचानक नदी में पानी बढ़ने लगा,
नाविक ने नाव सम्भालने का भरसक प्रयत्न किया
गया, नाव विचलित हो गई । पण्डितजी भी घबरा
नाविक के नियन्त्रण से बाहर होने लगी तो उसने
कहा- 'क्या आप तैरना जानते हैं ?'

पण्डिजी का उत्तर नकारात्मक था । पण्डि
विद्याएँ तो सीख ली थी परन्तु तैरने की कला नहीं

नाविक ने कहा- 'अब नाव मेरे नियन्त्रण के ब
आप तैरना नहीं जानते तो आपकी पूरी जिन्दगी पानी
है । बाढ़ के कारण मैं तो नाव छोड़कर पानी में कूद क
अपना जीवन बचा लूँगा, लेकिन आप क्या करेंगे ?
विद्याएँ तो खूब जानते हैं परन्तु तैरने की कला नहीं
आपकी सम्पूर्ण जिन्दगी अब पानी में है ।' नाविक ने तै
पार कर ली । पण्डितजी के बचाओ ! बचाओ !! की अ
पर नाविक को दया आ गई, उसने अपनी जान जोखि
कर पण्डितजी को बचा लिया । तब पण्डितजी का मस्
झुक गया । वे कहने लगे- 'मैं अपने ज्ञान के मद में था
उपहास नहीं करना चाहिये था ।

इस कथानक से मेरा यह आशय नहीं है कि
शास्त्र, भाषा विज्ञान, ज्योतिष आदि व्यावहारिक शिक्ष
करें । मैं व्यावहारिक शिक्षण के विरोध में नहीं हूँ । लेकि
यह चाहता हूँ कि केवल पुस्तकीय ज्ञान पर्याप्त नहीं है ।
है, अतः उपरोक्त वर्णित विद्याएँ हमारे लिये आवश्यक हो
परन्तु इतने ज्ञान मात्र से कार्य नहीं चलेगा । जीवन

बनाने, आत्मा को निर्मल बनाने, संवर-निर्जरा की अभिवृद्धि में जो सहायक ज्ञान है वही सच्चा ज्ञान है- सम्यग्ज्ञान है । भौतिक विकास ही वास्तविक विकास नहीं है । वास्तविक विकास तो आध्यात्मिक विकास है । मैं यह नहीं कहता कि पुस्तकीय ज्ञान न किया जावे, लेकिन भौतिक ज्ञान में, पुस्तकीय ज्ञान में, बाह्य ज्ञान में ज्ञान की इतिश्री न समझें । इनसे ऊपर उठकर स्व-पर, आत्मा-परमात्मा, हित-अहित, तत्व एवं द्रव्य को समझें तथा अपना जीवन उन्नत बनावें । सम्यग् ज्ञान ही स्व-पर प्रकाश है, कल्याणकारी है, मुक्ति में सहायक है । पर्युषण पर्व के ये पावन दिवस यही दिव्य सन्देश देते हैं ।

शान्ति का अमोघ अस्त्र-सम्यग्ज्ञान-

सम्यग्ज्ञान के अभाव के कारण ही मानव की दृष्टि आज बाह्य जगत पर लग रही है । आज विश्व में भौतिक प्रगति की दौड़ और होड़ लग रही है । इस दौड़ और होड़ में मानव अपने आपको भूल चुका है । मानवता से दूर हटता जा रहा है, इस दौड़ ने विश्व को विनाश के कगार पर ला खड़ा किया है । आज सम्पूर्ण विश्व में युद्ध का भय प्रति क्षण बना हुआ है । क्या यही मानव जीवन का लक्ष्य है ? कदापि नहीं । भौतिक विकास चाहे कितना भी हो जावे उससे शान्ति मिलने वाली नहीं । वास्तविक शान्ति के लिए आवश्यकता है आध्यात्मिक ज्ञान की यानि सम्यग्ज्ञान की । सम्यग्ज्ञान के विकास से विश्व में फैली हुई विषमताएँ दूर हो कर शान्ति सम्भव हो सकती है ।

स्वयं को पहचानो-

आध्यात्म योगी आनन्दघनजी ने कहा है-

आतम ज्ञानी श्रमण कहावे, बीजा तो द्रव्य लिंगी रे ।
वस्तु गते जो वस्तु प्रकाशे, 'आनन्दघन' मति संगे रे ॥

जानता, भाषा विज्ञान नहीं जानता, दर्शन शास्त्र नहीं जानता तो तेरी पौन जिन्दगी तो पानी में गई ।'

नाविक फिर भी मौन था । नाव अपनी गति से आगे बढ़ रही थी कि अचानक नदी में पानी बढ़ने लगा, बाढ़ आ गई । नाविक ने नाव सम्भालने का भरसक प्रयत्न किया परन्तु सब व्यर्थ गया, नाव विचलित हो गई । पण्डितजी भी घबरा गये । जब नाव नाविक के नियन्त्रण से बाहर होने लगी तो उसने पण्डितजी से कहा- 'क्या आप तैरना जानते हैं ?'

पण्डिजी का उत्तर नकारात्मक था । पण्डितजी ने अन्य विद्याएँ तो सीख ली थी परन्तु तैरने की कला नहीं सीखी ।

नाविक ने कहा- 'अब नाव मेरे नियन्त्रण के बाहर है, यदि आप तैरना नहीं जानते तो आपकी पूरी जिन्दगी पानी में जाने वाली है । बाढ़ के कारण मैं तो नाव छोड़कर पानी में कूद कर तैरते हुए अपना जीवन बचा लूँगा, लेकिन आप क्या करेंगे ? आप अन्य विद्याएँ तो खूब जानते हैं परन्तु तैरने की कला नहीं जानते अतः आपकी सम्पूर्ण जिन्दगी अब पानी में है ।' नाविक ने तैर कर नदी पार कर ली । पण्डितजी के बचाओ ! बचाओ !! की आवाज करने पर नाविक को दया आ गई, उसने अपनी जान जोखिम में डाल कर पण्डितजी को बचा लिया । तब पण्डितजी का मस्तक शर्म से झुक गया । वे कहने लगे- 'मैं अपने ज्ञान के मद में था मुझे आपका उपहास नहीं करना चाहिये था ।

इस कथानक से मेरा यह आशय नहीं है कि हम दर्शन शास्त्र, भाषा विज्ञान, ज्योतिष आदि व्यावहारिक शिक्षा ग्रहण न करें । मैं व्यावहारिक शिक्षण के विरोध में नहीं हूँ । लेकिन मैं बताना यह चाहता हूँ कि केवल पुस्तकीय ज्ञान पर्याप्त नहीं है । हम संसारी है, अतः उपरोक्त वर्णित विद्याएँ हमारे लिये आवश्यक हो सकती है, परन्तु इतने ज्ञान मात्र से कार्य नहीं चलेगा । जीवन को उच्च

बनाने, आत्मा को निर्मल बनाने, संवर-निर्जरा की अभिवृद्धि में जो सहायक ज्ञान है वही सच्चा ज्ञान है- सम्यग्ज्ञान है । भौतिक विकास ही वास्तविक विकास नहीं है । वास्तविक विकास तो आध्यात्मिक विकास है । मैं यह नहीं कहता कि पुस्तकीय ज्ञान न किया जावे, लेकिन भौतिक ज्ञान में, पुस्तकीय ज्ञान में, बाह्य ज्ञान में ज्ञान की इतिश्री न समझें । इनसे ऊपर उठकर स्व-पर, आत्मा-परमात्मा, हित-अहित, तत्व एवं द्रव्य को समझें तथा अपना जीवन उन्नत बनावें । सम्यग् ज्ञान ही स्व-पर प्रकाश है, कल्याणकारी है, मुक्ति में सहायक है । पर्युषण पर्व के ये पावन दिवस यही दिव्य सन्देश देते हैं ।

शान्ति का अमोघ अस्त्र-सम्यग्ज्ञान-

सम्यग्ज्ञान के अभाव के कारण ही मानव की दृष्टि आज बाह्य जगत पर लग रही है । आज विश्व में भौतिक प्रगति की दौड़ और होड़ लग रही है । इस दौड़ और होड़ में मानव अपने आपको भूल चुका है । मानवता से दूर हटता जा रहा है, इस दौड़ ने विश्व को विनाश के कगार पर ला खड़ा किया है । आज सम्पूर्ण विश्व में युद्ध का भय प्रति क्षण बना हुआ है । क्या यही मानव जीवन का लक्ष्य है ? कदापि नहीं । भौतिक विकास चाहे कितना भी हो जावे उससे शान्ति मिलने वाली नहीं । वास्तविक शान्ति के लिए आवश्यकता है आध्यात्मिक ज्ञान की यानि सम्यग्ज्ञान की । सम्यग्ज्ञान के विकास से विश्व में फैली हुई विषमताएँ दूर हो कर शान्ति सम्भव हो सकती है ।

स्वयं को पहचानो-

आध्यात्म योगी आनन्दघनजी ने कहा है-

आतम ज्ञानी श्रमण कहावे, बीजा तो द्रव्य लिंगी रे ।
वस्तु गते जो वस्तु प्रकाशे, 'आनन्दघन' मति संगे रे

वास्तव में आत्मज्ञान श्रेष्ठ है । जो आत्मज्ञानी है, वही सच्चा साधक है । आत्मज्ञानी वस्तु के स्वरूप को समझ लेता है, स्व-पर का भेदज्ञान कर लेता है । पर्युषण पर्व का यह पावन प्रसंग भी यही सन्देश देता है कि अपने आपको पहचानो, स्वयं को परखो । जिसने स्वयं को पहचान लिया, आत्मतत्त्व को समझ लिया उसने सब कुछ जान लिया । आचारांग सूत्र में स्पष्ट लिखा है-

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ,
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ।

जो एक आत्मा को जानता है वह संसार के स्वरूप को जानता है और जो सम्पूर्ण संसार के स्वरूप को जानता है वह आत्मा के स्वरूप को जानता है । सम्यग् ज्ञान के द्वारा ही ऐसा सम्भव है ।

ज्ञान के भेद-

ज्ञान के महत्व को समझने के बाद अब ज्ञान के भेद को समझ लेना आवश्यक है । तत्वार्थ सूत्र में ज्ञान के पाँच भेद बताए हैं-

मति श्रुतावधि मनः पर्याय केवलानि ज्ञानम् ।

अर्थात् मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय और केवल - ये पाँच ज्ञान हैं । नंदी सूत्र में भी इन्हीं पाँच ज्ञानों का उल्लेख है । मूल में तो ज्ञान एक है लेकिन आवरण, क्षय-उपशम आदि की अपेक्षा से ज्ञान के पाँच भेद कहे हैं ।

(1) मतिज्ञान-

पाँच इन्द्रियों एवं मन के द्वारा होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं । आँख, कान, नाक, रसना एवं त्वचा इन पाँच इन्द्रियों तथा मन की सहायता से आत्मा को जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है । यह परोक्ष ज्ञान है । मतिज्ञान के चार भेद है- 1. अवग्रह 2.

ईहा 3. अवाय और 4. धारणा । (जिज्ञासु पाठकों को इनका विस्तार प्रथक से जानना चाहिये)

(2) श्रुत ज्ञान-

पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा जो सामन्य ज्ञान होता है वह मति ज्ञान है और वही ज्ञान जब कथन करने योग्य बन जाता है तब श्रुत ज्ञान की श्रेणी में आ जाता है । जैसे कच्चा दूध एवं ओटाया हुआ दूध । श्रुत का अर्थ सुनना भी है । जो ज्ञान शब्द के सहारे कराया जावे, चाहे वह बोलकर, लिखकर, पुस्तक पढ़कर अथवा संकेत द्वारा स्व-पर को कराया जावे सब ही श्रुत ज्ञान है । श्रुत ज्ञान मति पूर्वक होता है । 'श्रुतं मति पूर्वं' मतिज्ञान और श्रुत ज्ञान में घनिष्ठ सम्बन्ध है । मति ज्ञान से श्रुत ज्ञान होता है । अतः मति ज्ञान कारण है और श्रुत ज्ञान कार्य है । शास्त्रों के पढ़ने-सुनने से श्रुत ज्ञान होता है । श्रुत ज्ञान के दो प्रमुख भेद हैं- 1. अक्षर श्रुत 2. अनक्षर श्रुत ।

अक्षर श्रुत- शब्द से समझाना अक्षर श्रुत है । जैसे' किसी को आवाज देकर बुलाना ।

अनक्षर श्रुत- संकेत द्वारा ज्ञान कराना । जैसे- सीटी बजाकर या घण्टा बजाकर बुलाना अनक्षर श्रुत हैं । खाँसना, छींकना आदि संकेत से समझाना अनक्षर श्रुत है ।

तत्वार्थ सूत्र में श्रुत ज्ञान के दो, बारह और अनेक भेद बताए हैं ।

'श्रुतं मति पूर्वं द्वयेऽनेक द्वादश भेदम् ।

(तत्वार्थ सूत्र 1/20)

वे सभी अंग, उपांग, आगम, शास्त्र, पुस्तकें और मति ज्ञान एवं श्रुत ज्ञान के निमित्त हैं जो सम्यग् ज्ञान के पोषक हैं । मति ज्ञन और श्रुत ज्ञान दोनों साथ रहते हैं ।

परोक्ष ज्ञान है इसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं । क्योंकि ये दोनों इन्द्रियों एव मन की सहायता से होते हैं ।

3. अवधि ज्ञान-

यह प्रत्यक्ष ज्ञान है । मर्यादित क्षेत्र में रहे हुए रूपी पदार्थों को इन्द्रियों एवं मन की सहायता के बिना ही जान लेना अवधि ज्ञान है । इस ज्ञान में क्षेत्र और काल की मर्यादा होती है । रूपी पदार्थ का मतलब है- जिसमें वर्ण, गन्ध, रस स्पर्श आदि हों ।

अवधि ज्ञान दो प्रकार का होता है-

(1) भव प्रत्यय और (2) गुण प्रत्यय

भव प्रत्यये- जन्म के साथ होने वाला अवधि ज्ञान भव प्रत्यय कहलाता है । नारक एवं देवों को भव प्रत्यय अवधि ज्ञान होता है ।

गुण प्रत्यय- जो अवधिज्ञान जन्म से तो न हो लेकिन बाद में व्रत नियम आदि अनुष्ठान के बल से होता है उसे गुण प्रत्यय अवधि ज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान अवधि ज्ञानावरण कर्म के क्षपोपशम से मनुष्य एव तिर्यंच पंचेन्द्रियों को होता है ।

4. मनः पर्यय ज्ञान-

जिस ज्ञान के द्वारा अढाई द्वीप के अन्तर्गत रहे हुए जनमन की पर्यायों को जाना जावे उसे मनः पर्यय ज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान सतत साधनारत, अप्रमत्त, विशिष्ट ऋद्धि सम्पन्न साधुओं को ही होता है । सामान्य व्यक्ति इस ज्ञान का अधिकारी नहीं है । यह प्रत्यक्ष ज्ञान है । इस ज्ञान के द्वारा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन में सोचे हुए भावों को प्रकट किया जा सकता है । इसके भी दो भेद हैं ।

(1) ऋजुमति- विषय को कुछ अस्पष्ट रूप से जानने वाला ।

आत्मा स्वयं के पुरुषार्थ द्वारा कर्म पुद्गलों को नष्ट कर अपने शुद्ध निर्मल स्वरूप को प्रकट कर सकता है । प्रत्येक भव्य आत्मा में केवलज्ञान की सत्ता रही हुई है । आवश्यकता है उसे प्रकट करने की, जागृत करने की, आवरण को दूर करने की । आत्मा है तो ज्ञानानन्द स्वभाव वाली, लेकिन वह अपने स्वरूप को भूल चुकी है, पुद्गलों के चक्कर में पुद्गलानन्दी बन रही है । विद्वान कवि ने भी कहा है-

मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ ।
मैं हूँ अपने में स्वयं पूर्ण, पर की मुझ में कुछ गंध नहीं ।
मैं अरस अरूपी अस्पर्शी, पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं ॥

जैन साहित्य ज्ञान का अतुल भण्डार है । लेकिन आज समाज इससे बेखबर होता जा रहा है । आज के इस भौतिक युग में व्यावहारिक ज्ञान-बाह्य ज्ञान की तो बहुत अभिवृद्धि हुई है परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान का ह्रास हो रहा है। आज मानव का लक्ष्य धन कमाने का रह गया है, इसलिए आध्यात्मिक ज्ञान से दूर होता जा रहा है ।

ज्ञान के लिए स्वाध्याय आवश्यक-

आज स्वाध्याय की प्रवृत्ति बहुत कम हो गई है । दिगम्बर जैन समाज में तो फिर भी स्वाध्याय की ओर लक्ष्य है, परन्तु श्वेताम्बर समाज में इस प्रवृत्ति के प्रति विशेष उदासीनता है । वे सोचते हैं कि स्वाध्याय का कार्य तो सन्त, मुनिराजों का है । श्वेताम्बर मूर्तिपूजक मूर्ति पूजा कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं, तो स्थानकवासी सामायिक की पौशाक धारण करके सन्तोष कर लेते हैं । स्वाध्याय की प्रवृत्ति बहुत कम है जो उचित नहीं है । होना यह चाहिये कि स्वाध्याय को जीवन का अंग बनाया जाये, इस ओर विशेष ध्यान दिया जावे । सामायिक में भी नियमित आवश्यक रूप से स्वाध्याय होना चाहिये । सामायिक करने वाले अधिकांश भाई-बहन माला, भजन, अनानुपूर्वी या इधर-उधर की चर्चा में

समय पूरा कर देते हैं। ऐसे भाई-बहनों से मैं यह कहना चाहूँगा कि आप सामायिक में माला, अनानुपूर्वी आदि भले ही गिने पर कुछ समय स्वाध्याय भी करना चाहिये। यदि किसी भाई में स्वाध्याय करने की क्षमता नहीं हो तो उसे माला, अनानुपूर्वी आदि गिनते रहना चाहिये, पर व्यर्थ की चर्चा नहीं करनी चाहिये।

स्वाध्याय हमारे जीवन का अंग बनेगा तो ज्ञान में वृद्धि होगी। कई भाई-बहिनों को सामायिक करते हुए कई वर्ष बीत गये लेकिन उन्हें जैन सिद्धान्त की सामान्य बातों की भी जानकारी नहीं होती। इसका कारण है- स्वाध्याय का अभाव।

एक बार किसी नगर में सन्तों का पदार्पण हुआ। इस नगर में कई जैन परिवार रहते थे तथा सन्तों का आवागमन होते रहने से व्याख्यान का कार्यक्रम होता रहता था। कई व्यक्ति नियमित सामायिक किया करते थे। सन्त जिज्ञासु थे- स्वाध्यायप्रेमी थे। व्याख्यान चल रहा था। व्याख्याता संत ने नगर के एक प्रमुख जैन भाई से व्याख्यान के मध्य पूछा-

'जीवों के भेद तो जानते ही होंगे, बताओ पंचेन्द्रिय जीव कौन-कौनसे होते हैं ?'

भाई ने उत्तर दिया- 'महाराज ! हमने बड़-बड़े सन्तों के व्याख्यान सुने हैं। क्या मैं इतना भी नहीं जानता ? हाथी पंचेन्द्रिय जीव होता है।'

मुनिराज ने सोचा उत्तर तो ठीक है परन्तु विचार आया कि इन्होंने केवल हाथी को ही पंचेन्द्रिय क्यों कहा। अतः पुनः पूछा-

'हाथी पंचेन्द्रिय कैसे है ?'

'हाथी के चार पैर होते हैं और एक लम्बी सूँड होती है, इसलिए वह पंचेन्द्रिय है।'

मुनिराज समझ गये कि यहाँ ढोल में पोल चल रही है, अतः पुनः प्रश्न किया-

'श्रावकजी ! चतुरिन्द्रिय जीव का नाम बताओ ?

'बावजी ! भैंस चतुरिन्द्रिय है ।'

'कैसे ?'

'भैंस के चार पैर होते हैं अतः चतुरिन्द्रि है ।

'तेइन्द्रिय प्राणी का भी नाम बता दो ?'

'अब तो भाई चक्कर में पड़ गये । थोड़ा सोचा और उन्हें अपनी लंगड़ी गाय याद आ गई । तत्काल उत्तर दिया- महाराज ! मेरे एक लंगड़ी गाय है जिसका एक पैर कट गया अतः वह तेइन्द्रिय है ।'

'और द्विन्द्रिय जीव बताओ भाई ?'

'मैं और मेरी पत्नी दोनों ।'

'अच्छा ! तो अब एकेन्द्रिय भी बता दो ?'

'बस महाराज ! आप अकेले हैं अतः आप एकेन्द्रिय हैं ।'

यह सुनकर तो सभी सन्तों को भी हँसी आने लगी । मुनिराज ने कहा- वाह भाई ! आपने तो मुझे स्थावर जीव बना दिया-एक इन्द्रिय वाला प्राणी कह दिया । सभाजन भी जोर-जोर से हँस पड़े ।

यह स्थिति है हमारे श्रावकों के ज्ञान की । स्वाध्याय के अभाव में एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय आदि की भी जानकारी नहीं है । किसी कवि ने ठीक ही कहा है-

ज्ञान बिन कभी नहीं तिरना, करो तुम अच्छी तरह तिरना ।

ज्ञान-दया का मूल रूल, यह फरमाया वीतराग ।
ज्ञान बिना सोहे नहीं, ज्यूँ हंस-सभा में काग ॥१॥

गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म, ये दोनों ज्ञान आधार ।
ज्ञान बिना संसार का सरे, चले नहीं व्यवहार ॥२॥

स्वाध्याय का संकल्प करें–

आज के इस पवित्र पावन दिवस पर हम सब यह दृढ़ संकल्प करें कि नियमित ज्ञानाराधना करेंगे, स्वाध्याय करेंगे। वर्तमान युग में साहित्य प्रकाशन का कार्य बहुत हो रहा है, लेकिन कितना उपयोगी एवं सार्थक है, यह विचारणीय है। आज युवकों में अश्लील एवं जासूसी साहित्य पढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। जो हानिकारक एवं विकृत्ति को पैदा करने वाली है। ऐसे साहित्य से लाभ के स्थान पर हानि है एवं विकार भावना में वृद्धि होती है। इस प्रवृत्ति पर रोक लगाना आवश्यक है। युवकों को सद्साहित्य पढ़ना चाहिये। आज सद्साहित्य का अभाव नहीं है। युग दृष्टा, महान क्रान्तिकारी सन्त पूज्य जवाहराचार्य का साहित्य जो जवाहर किरणावली के नाम से प्रसिद्ध है, वह अत्यन्त उपयोगी, शास्त्रानुकूल, रोचक एवं सरल भाषा में है। इसी प्रकार कुछ अन्य सन्त-सतियों का साहित्य भी अच्छा एवं उपयोगी हो सकता है। युवकों को ऐसा साहित्य पढ़ना चाहिये जिससे दोहरा लाभ होगा।

अन्त में यही कहना है कि सम्यग्ज्ञान के अभाव में जीवन निःस्सार है। पर्यूषण पर्व के पावन अवसर पर ज्ञान के महत्व को समझकर उसे जीवन का अंग बनावेंगे तभी मानव भव सफल बन सकेगा। भक्त भी भगवान से यही प्रार्थना करता है कि हे प्रभु ! आप मुझ पर कृपा करें, मेरे मन की चिन्ता मिटावें और मेरे पापों को नष्ट करें। यह तभी सम्भव है जब हम स्व-पर के भेद को जानकर सम्यग्ज्ञान की आराधना करेंगे।

मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयो।
बन्धाय विषयासक्तं, मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥

भावार्थ- मन ही मनुष्य के बन्ध एवं मोक्ष का कारण है, विषयासक्त मन बन्धन का कारण बनता है तथा निर्विषय मन मुक्ति का प्रदाता है। (ब्रह्मविन्दु उप.)

सम्यग् दर्शन एक विवेचन

यथार्थ रूप से पदार्थों को निश्चय करने की रुचि सम्यग् दर्शन है । सम्यग् दर्शन का अर्थ है यथार्थ दृष्टि, सम्यक् श्रद्धा, सत्य निष्ठ, तत्व विषयक, सम्यक् श्रद्धान, पदार्थों को यथार्थ रूप से जानने की अभिरुचि । सम्यग् दर्शन मोक्ष का प्रथम सोपान है, मोक्ष रूपी भव्य प्रासाद की नींव है ।

सम्यग् दर्शन के अभाव में ज्ञान सम्यक् नहीं हो सकता, चारित्र सम्यक् नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि शुद्ध श्रद्धा के अभाव में, सम्यग् दर्शन के अभाव में, ज्ञान अज्ञान रूप है, सम्पूर्ण धर्म क्रियाएँ व्यर्थ हैं, सारहीन हैं ।

हे वीतराग भगवन्, यह प्रार्थना हमारी,
हम निज स्वरूप पाएँ, पाएँ दशा तुम्हारी ।
फिरते अनादि से हम, मिथ्यात्ववश जगत में,
स्थिर आत्मवृत्ति धारे, तज वृत्तियाँ विकारी ॥ हे वीतराग.
तन, मन, वचन क्रियाएँ, अपवित्र पुद्गलों की,
इनका ममत्व छोड़ें, बनकर समत्वधारी ॥ हे वीतराग...
सब वृत्तियों से ऊपर, निवृत्ति धाम अपना,
हम 'सूर्यचन्द्र' उसमें, बन जाएँ फिर विहारी ॥ हे वीतराग.

यह वीतराग प्रभु की प्रार्थना है । साधक वीतराग प्रभु से भौतिक सुखों की कामना नहीं करता, धन-दौलत नहीं माँगता, बाह्य जगत की वस्तुओं की इच्छा नहीं करता, तो फिर क्या चाहता है ? साधक चाहता है- शाश्वत सुख, आध्यात्मिक वैभव, परमानन्द पद, जिसके बाद कभी कोई भी कामना शेष न रहे, इच्छा न रहे, माँग न करनी पड़े । जिन वीतराग प्रभु ने धन-दौलत और सांसारिक सुख को तुच्छ समझकर, हेय समझकर त्याग दिया है, उनसे भौतिक पदार्थों की मांग करना क्या उचित होगा ? कदापि नहीं । फिर, सांसारिक सुख तो क्षणिक हैं, नाशवान हैं, सुखाभास हैं । इसलिए उन सुखों की मांग का कहीं अन्त नहीं है । एक मांग की पूर्ति होने पर दूसरी मांग तैयार हो जाती है । आशा और तृष्णा का कहीं अन्त नहीं है । शास्त्रों में कहा है-

इच्छा हु आगास समा अणंतिया

अर्थात् इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं । इसलिए साधक वीतराग प्रभु से ऐसी मांग करता है कि जिसके बाद मांग करने की कभी आवश्यकता ही नहीं रहती । जीव का निज स्वरूप सिद्धावस्था है और इसी की कामना साधक करता है । पारस लोहे को सोना बना सकता है परन्तु वह पारस नहीं बना सकता । वीतराग प्रभु की यह विशेषता है कि वे साधक को भी अपने स्वयं के

समान बना देते हैं या यों कहें कि वीतराग की आराधना करने वाला भी वीतराग बन जाता है ।

यदि कोई वीतराग प्रभु से धन-दौलत, सांसारिक वैभव, समृद्धि की इच्छा करे तो यह असंगत होगा । जो वीतराग प्रभु इन वस्तुओं को छोड़ने का उपदेश देते हैं, उन्हीं से भौतिक पदार्थ मांगना उनका अपमान करने के समान है। ये भौतिक सुख तो सामान्य सांसारिक व्यक्ति भी प्रदान कर सकते हैं । फिर वीतराग प्रभु से ऐसी मांग करना अज्ञानता है । दाता के अनुसार ही याचना करना उचित है । इसीलिए वीतराग प्रभु से तो वीतरागता की ही याचना करनी चाहिये । वीतराग प्रभु अपनी वीतरागता में तल्लीन रहते हैं । स्तुति करने वाले पर खुश और निंदा करने वाले पर नाराज नहीं होते । किसी के द्वारा याचना करने पर भी वे किसी को कुछ देते नहीं हैं । यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि जब वीतराग प्रभु किसी को कुछ देते नहीं तो उनसे याचना क्यों की जाये ? तर्क की दृष्टि से तर्क युक्ति संगत है, पर जहाँ श्रद्धा की प्रगाढ़ता होती है वहाँ समर्पण भावना का प्राबल्य रहता है । उसी समर्पण भावना से व्यक्ति अपनी भावना प्रस्तुत करता है तथा वीतरागता प्राप्त करने हेतु वीतराग प्रभु का आदर्श अपने समक्ष रखता है, क्योंकि साधना के अनुरूप यदि आदर्श समक्ष नहीं होता है तो साधना समीचीन नहीं हो सकती । अतः वीतरागता प्राप्त करने की इच्छा से ही कवि ने वीतराग प्रभु के चरणों में अपनी भावना समर्पित की है ।

सम्यग् दर्शन का अर्थ-

आज पर्वाराधना का तीसरा दिन है । आज हमें सम्यग् दर्शन के बारे में चिन्तन करना है । सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन सहचारी हैं । एक के अभाव में दूसरा सम्भव नहीं है । सम्यग् दर्शन का संक्षिप्त अर्थ है- तत्वों पर यथार्थ श्रद्धा । तत्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय में आचार्य उमास्वाति ने कहा है-

'तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'

अर्थात् पदार्थों पर यथार्थ दृष्टि, सच्ची श्रद्धा करना सम्यग् दर्शन है । सम्यग् दर्शन का अर्थ है- यथार्थ दृष्टि, सच्ची श्रद्धा, सत्य निष्ठा, तत्व विषयक सम्यग् श्रद्धान्, पदार्थों को यथार्थ रूप में जानने की अभिरूचि । सम्यग् दर्शन के अभाव में ज्ञान, सम्यग् ज्ञान नहीं हो सकता । सम्यक्त्व की उत्पत्ति होते ही ज्ञान, सम्यग् ज्ञान हो जाता है । सम्यग् दर्शन के अभाव में ज्ञान भी अज्ञान रूप है, फिर चारित्र की तो बात ही कहाँ है ? सम्यग् दर्शन न हो तो ज्ञान और चारित्र आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकते, भव भ्रमण का अन्त नहीं कर सकते ।

मुक्ति का प्रथम सोपान-सम्यग् दर्शन-

मोक्ष रूपी भव्य प्रासाद की नींव सम्यग् दर्शन है । जिस भवन की नींव दृढ़ नहीं है वह भवन टिक नहीं सकता। इसलिए नींव का दृढ़ होना आवश्यक है । सम्यग् दर्शन मोक्ष मार्ग का प्रथम सौपान है । जब तक आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती तब तक समस्त आचरण, समस्त क्रियाकाण्ड, समस्त अनुष्ठान अनुपयोगी हैं, अकाम निर्जरा के कारण है । यथा-

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न हुंति चरण गुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥

अर्थात् सम्यग् दर्शन के अभाव में सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और सम्यग् ज्ञान के बिना चारित्र की प्राप्ति नहीं होती । चारित्र के बिना मोक्ष सम्भव नहीं और जब तक मुक्ति नहीं मिलती तब तक निर्वाण नहीं होता, दु:खों से छुटकारा नहीं होता ।

सम्यग् दर्शन बनाम मोक्षमार्ग

मोक्षमार्ग के तीन साधन हैं जिन्हें रत्न?य के नाम से जाना जाता है- 1. यम्यग् दर्शन, 2. सम्यग् ज्ञान, 3. सम्यग् चारित्र ।

तत्त्वार्थ सूत्र का प्रारम्भ ही इसी सूत्र से हुआ है-

'सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग:'

अर्थात् सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र मोक्ष के साधन हैं । इनमें से किसी एक के भी अभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है । लेकिन सम्यग् दर्शन प्रथम सीढ़ी है, प्रथम सोपान है, प्रथम साधन है । मोक्ष मार्ग ही क्यों, संसार मार्ग में भी श्रद्धा के बिना कार्य नहीं चल सकता । रोगी; वैद्य, हकीम और डॉक्टर पर विश्वास करके ही रोग मुक्त हो सकता है, शिष्य गुरु पर श्रद्धा करके ही विद्या ग्रहण कर सकता है, यात्री चालक पर विश्वास करके ही गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकता हे । बिना विश्वास के संसार का कार्य गतिशील नहीं हो सकता । परिवार में एक दूसरे पर विश्वास किया जाता है, व्यवसाय में व्यापारी परस्पर विश्वास रखते हैं और यदि विश्वास न हो तो चहुँ ओर अशान्ति का वातावरण बन जाता है । इसलिए श्रद्धा जीवन निर्माण का मूल मन्त्र है। व्यक्ति कितना ही विद्वान हो, पण्डित हो, विभिन्न भाषाओं का ज्ञात हो, अनेक कलाओं में निपुण हो, पर यदि उसमें आत्मा परमात्मा पर श्रद्धा नहीं, तत्वों के प्रति सम्यक् श्रद्धान नहीं तो संसार सागर से पार होना कठिन हो जाता है । किसी कवि ने कहा है-

इक समकित पाए विना, जप तप क्रिया फोक ।
जैसे शव सिनगारना, समझो कहे तिलोक ।

नि:सन्देह सम्यग्दर्शन एक अपूर्व और अलौकिक ज्योति है जिसके प्रकट होने से आत्मा पर छाया हुआ अनादिकालीन अन्धकार नष्ट हो जाता है और आत्मा को अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है । किसी जन्मान्ध व्यक्ति को नेत्र प्राप्त हो जाने पर जो आनन्द का अनुभव होता है, उससे भी अधिक आनन्द आत्मा को सम्यक्त्व प्राप्ति पर होता है । सम्यक्त्व आत्मा में समता रस का संचार करता है, राग-द्वेष के संताप को नष्ट करता है । आचारांग सूत्र में कहा है-

सम्मत्तदंशी न करेइ पावं ।

अर्थात् सम्यग्दर्शी पाप नहीं करता । गुणस्थान क्रम में चतुर्थ गुणस्थान से चतुर्दश गुणस्थान तक के जीव सम्यग् दृष्टि माने जाते हैं और नवीन पाप नहीं करते । चौथे गुण स्थान को स्पर्श करते ही जीव अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया एवं लोभ करना बन्द कर देता है । जिससे प्रगाढ़ पाप कर्म का बन्धन रूक जाता है एवं चरम गुणस्थान में जब दृष्टि विकास के साथ सम्पूर्णतया सम्यग्दृष्टि अवस्था बन जाती है तब शुभ अथवा अशुभ कर्म का बन्ध भी पूर्णतया रूक जाता है ? सम्यग् दर्शन के प्रभाव से जीवन बदल जाता है । दृढ़ सम्यक्त्वी जीव संसार में रहते हुए भी जल कमलवत रहता है । भरत चक्रवर्ती छः खण्ड का शासन चलाते थे । फिर भी अपने आपको उससे भिन्न समझते थे । मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी का प्रमुख अन्तर यही है कि मिथ्यात्वी का मन संसार में रचा-पचा रहता है और सम्यक्त्वी संसार से अनासक्त रहता है । आचार्य हरिभद्र ने तो स्पष्ट कहा है कि- 'सम्यग्दर्शी का शरीर संसार में रहता है और मन मोक्ष में ।'

समझू शंक पाप से, अण समझू हर्षन्त ।
वे लूखा, ये चिकणा, इण विध कर्म बन्धत ॥

सम्यग् दृष्टि जीव का लक्ष्य संसार नहीं मोक्ष होता है। जिस प्रकार पतिव्रता नारी अपने पति को विस्मृत नहीं करती, माँ बच्चे को नहीं भूलती, पनिहारिन मस्तक पर दो कलश रखे हुए बात करती है और हँसती हुई चलती है फिर भी कलश को नहीं भूलती, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि संसार में रहकर भी मोक्षमार्ग को, आत्म-साधना के पवित्र पथ को नहीं भूलता है ।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप-

सम्यग्दर्शन का अर्थ है-शुद्ध श्रद्धा । लेकिन श्रद्धा किस पर हो ? यह भी विचारणीय है । आवश्यक सूत्र में कहा है-

अरिहंतो महदेवो, जावज्जीवाए सुसाहुणो गुरुणो ।
जिण पण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥

वीतराग प्रभु, सर्वज्ञ अरिहंत परमात्मा ही मेरे देव हैं, पंच महाव्रतधारी, शास्त्रोक्त गुणों से युक्त सुसाधु मेरे गुरु हैं तथा अरिहंत प्रभु द्वारा प्रणीत तत्व ही मेरा धर्म है, साधक इस प्रकार का श्रद्धान जीवन पर्यन्त के लिए ग्रहण करता है। कई बार साधक के जीवन में परीक्षा के तौर पर उपसर्ग भी आते हैं जैसे- अरहणक श्रावक की परीक्षा करने के लिए आए हुए देव ने उसके जहाज को समुद्र से अपनी अंगुलियों पर आकाश में उठा लिया तथा उसे धर्म को झूठा कहने के लिए बाध्य किया । जहाज में रहे हुए सभी यात्री भयभीत हो गये। मृत्यु उनके सामने नाचने लगी । उन्होंने भी अरहणक को देव की बात मानने के लिए बहुत द़बाव डाला । देव ने जहाज को समुद्र में डूबो देने का भय दिखाया । लेकिन अरहणक श्रद्धा का दीवाना जो था । उसने धर्म को झूँठा स्वीकार करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया । अरहणक ने कहा- 'मेरा धर्म सच्चा है, सच्चा है और त्रिकाल में सच्चा है ।'

'दंसण मूलो धम्मो'

अर्थात् धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है । अम्बड़ संन्यासी ने श्राविका सुलसा की परीक्षा की । वैक्रिय लब्धि से ब्रह्मा, विष्णु, महेश के स्वरूप को बनाया यहाँ तक कि पच्चीसवें तीर्थंकर का मिथ्यारूप बनाकर सुलसा को छलना चाहा । परन्तु वह भगवान् महावीर की दृढ़ श्राविका थी, उसने वीतराग धर्म से विपरीत किसी भी बात को स्वीकार नहीं किया । अन्त में विजय सम्यक्त्व की हुई । अम्बड़ संन्यासी ने भी खुलसा की दृढ़ता की प्रशंसा की ।

देव हमारे श्री अरिहंत-

सम्यग्दृष्टि अच्छी तरह जानता है, मानता है और समझता **है कि वास्तव में** देव वही है जो वीतराग हो, अठारह पापों से रहित

हो, सर्वज्ञ हो, सर्वदर्शी हो । अरिहंत और सिद्ध परमात्मा ही उक्त गुणों से सम्पन्न होते हैं, इसलिए देव पद के लिए वे ही वन्दनीय, पूजनीय हैं । इनके अतिरिक्त भक्तों पर प्रसन्न एवं दुश्मनों पर नाराज होने वाले रागी-द्वेषी, पूजा और प्रतिष्ठा के भूखे देव कुदेव हैं । किसी कवि ने कहा है-

कुदेव के पास जावे, हाथ जोड़ आरडियां खावे ।
रगड़ रगड़ नाक, सारो दिन सेवता ॥
धूप लाओ दीप लाओ, नारेल ने वैद्य लाओ,
पूजा लाओ, भेंट लाओ, लाओ लाओ केवता ॥
तूँ तो जावे देव पास, देव करे थारी आस ।
मन में विचार कर, लेवता के देवता ॥

इस प्रकार कामी क्रोधी, मायावी, लोभी, राग-द्वेष से युक्त देव निर्दोष देव नहीं हो सकते । इसलिए सम्यग्दृष्टि के वन्दनीय देव तो सर्वदोष विवर्जित अरिहंतदेव एवं सिद्ध परमात्मा ही होते हैं ।

गुरु हमारे श्री निर्ग्रन्थ-

देव के बाद दूसरा पद है गुरु का । गुरु का पद भी बहुत महत्वपूर्ण है । कहा भी है-

यह तन विष की बेलडी, गुरु अमृत की खान ।
शीश दिया भी गुरु मिले, तो भी सस्ता जान ॥

गुरु का स्थान बहुत उच्च है । गुरु ज्ञान रूपी प्रकाश को प्रदान करने वाला होता है । 'गु' अर्थात् अन्धकार और 'रु' अर्थात् रोकना । जो अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर कर जीवन में ज्ञान-प्रकाश आलोकित करे वह गुरु है । गुरु के महत्व को बताते हुए यहाँ तक कहा गया है-

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूँ पाय ।
बलिहारी गुरुदेव की, गोविन्द दियो बताय ॥

प्रभु का ज्ञान कराने वाले भी गुरु ही होते हैं । इसलिए किसी अपेक्षा से गुरु का स्थान प्रभु से भी उच्च होता है । आज भरत क्षेत्र में अरिहंत परमात्मा नहीं विराजते हैं, लेकिन हमारे गुरु हमें अरिहंत के स्वरूप का ज्ञान कराते हैं ।

गुरु का पद तो बहुत उच्च है पर कैसे गुरु का ? क्या संसार में परिभ्रमण कराने वाले का, संसार मार्ग का उपदेश देने वाले का ? नहीं । ऐसा व्यक्ति गुरु पद के योग्य नहीं होता । किन्तु सच्चे गुरु वे हैं जो पाँच महाव्रत पालते हैं, आठ प्रवचनमाता की शुद्ध आराधना करते हैं, वीतराग भगवान के मार्ग पर स्वयं चलते हैं तथा दूसरों को चलने का उपदेश देते हैं, राग-द्वेष की ग्रन्थि को छेदन करने का प्रयत्न करते हैं । संयम मार्ग का अनुसरण करते हैं । उक्त गुणों से रहित लोभी-लालची कनक-कान्ता एवं दुर्व्यसनों का सेवन कर्ता संसार सागर से तिरा नहीं सकता । यथा-

लोभी गुरु तारे नहीं, तीरे सो तारणहार ।
जो तुँ तिरणो चाहे तो, निर्लोभी गुरु धार ॥

अंग्रेजी में कहावत है- *Every thing that glitters. is not gold.* 'चमकने वाली प्रत्येक वस्तु सोना नहीं होती ।'

साधु नाम धराने वाले सभी गुरु नहीं हो सकते । कहा है-

पानी पीना छानकर, गुरु करना जान कर ।

गुरु के अभाव में ज्ञान नहीं होता ।

गुरु दीपक गुरु चांदणो, गुरु विन घोर अन्धार ।
पलक न विसरूँ तुम भणि, गुरु मुझ प्राण आधार ॥

इसलिए सम्यग्दृष्टि नामधारी या वेषधारी साधुओं को गुरु नहीं मानता । वह तो गुरु के गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को ही गुरु मानता है । अन्यथा गुरु और शिष्य दोनों की दुर्गति होती है, कहा भी है-

गुरु लोभी चेला लालची, दोनों खेले दांव ।
दोनों डूबे बापड़ा, बैठ पत्थर की नाव ॥

केवली प्ररूपित धर्म–

धर्म के बारे में यहाँ इतना ही कहना है कि अरिहंत परमात्मा, वीतराग प्रभु द्वारा बताया गया, अहिंसा व दयामय धर्म ही सच्चा धर्म है । धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझकर सच्चे धर्म को ही जीवन में अपनाना चाहिये । सम्यग् दृष्टि जीव उसी धर्म को स्वीकार करता है जिसे केवली भगवान् ने प्ररूपित किया है, क्योंकि ऐसा ही धर्म पूर्ण एवं निर्दोष हो सकता है । सम्यग् दृष्टि को अरिहंतों की वाणी पर अटूट श्रद्धा होती है । आचारांग सूत्र में कहा है-

'तमेव सच्चं निस्सकं जं जिणेहिं पवेइयं ।'

अर्थात् जिनेन्द्र भगवन ने जो बताया है वही सत्य है, शंका रहित है । आज श्रद्धा की स्थिति बड़ी विचित्र है । कई लोगों को वीतराग वाणी पर दृढ़ नहीं होती, क्योंकि कुछ तत्व उनकी बुद्धि की पहुँच के बाहर होते हैं । परन्तु ऐसे विषयों में उन्हें ऐसा सोचना चाहिये कि वास्तव में सत्य तो वही है जो केवली प्रभु ने बताया है । लेकिन हमारी अल्प बुद्धि उसे ग्रहण नहीं कर पाती । वीतराग वाणी में शंका करना उचित नहीं है । किसी अंग्रेज विद्वान ने कहा है-

Doubt is hell in the human soul.
मानव की आत्मा में शंका नरक के समान है ।

श्रद्धा संजीवनी और शंका हलाहल विष–

किसी सेठ ने साधना के द्वारा आकाशगामिनी विद्या की सिद्धि प्राप्त कर ली । इस विद्या के द्वारा वह पक्षियों की तरह आकाश में उड़ सकता था तथा रत्न-द्वीप में जाकर रत्न ला सकता था । कालान्तर में वह व्यक्ति वृद्ध हो गया । उसने विचार किया कि

वह कभी भी मृत्यु को प्राप्त हो सकता है, इसलिए आकाश गामिनी विद्या को अपने प्रिय, इकलौते पुत्र को सिखा देना ठीक होगा। ऐसा सोचकर उसने अपने पुत्र को बुलाकर कहा- 'प्रिय पुत्र! अब मैं वृद्ध हो गया हूँ और कभी भी काल का मेहमान बन सकता हूँ। मैं आकाशगामिनी विद्या जानता हूँ। मैं यह चाहता हूँ कि यह विद्या तुम्हें बता दूँ ताकि कभी संकट के समय तुम्हारे काम आवे। तुम इस विद्या के द्वारा स्वतन्त्र रूप से आकाश में उड़ सकोगे तथा रत्नद्वीप से रत्न भी प्राप्त कर सकोगे।' पुत्र अत्यन्त प्रसन्न हुआ। पिता ने पुत्र को विद्या का अच्छी तरह ज्ञान करा दिया। पिता ने बताया कि अमावस्या की अंधियारी रात्रि को मध्य रात्रि में किसी दूर जंगल में जाना। वहाँ पर किसी विशाल वृक्ष के नीचे बड़ी चूल (चूल्हा) तैयार करना। चूल पर कड़ाव रखना और कड़ाव में तेल भरना। इस कड़ाव के ठीक ऊपर वाली डाली पर सूत के कच्चे धागे को एक आसन तैयार करना। कड़ाव के तेल को खूब गर्म करना। मन्त्रों का उच्चारण समाप्त होने पर धागे के आसन पर बैठ जाना। बस, फिर आकाश गामिनी विद्या की सिद्धि हो जावेगी। पिता कुछ काल बाद मृत्यु को प्राप्त हो गया। कुछ दिनों बाद सेठ पुत्र ने आकाशगामिनी विद्या की सिद्धि का विचार किया। पिता के बताए अनुसार सारा सामान गाड़ी में भरकर जंगल में ले गया और विधिवत सम्पूर्ण तैयारी की।

मन्त्रों का उच्चारण पूर्ण हुआ। सेठ पुत्र पेड़ की डाल पर बैठा था। नीचे कड़ाव में तेल उबल रहा था और धागों के सींके पर बैठने का अवसर आ गया था। सेठ पुत्र ने सींके पर बैठने का विचार किया और उसकी दृष्टि नीचे कड़ाव पर गिरी, विचार आया कहीं मन्त्र असफल हो गये और मैं कड़ाव में गिर गया तो यहीं काल को प्राप्त हो जाऊँगा, आकाश में उड़ने के वजाय तेल में भुन जाऊँगा। इस प्रकार उसे सन्देह उत्पन्न हुआ और वह रूक गया। पुनः विचार किया मन्त्र विद्या मेरे पिताजी ने वताई है, मैं उनका प्रिय एवं इकलौता पुत्र हूँ, वे मुझे गलत विद्या नहीं वता सकते। वे

मेरा हित चाहने वाले थे, मृत्यु नहीं । ऐसा विचार कर सेठ पुत्र ने एक पैर उपर उठाया और सींके में बैठने का विचार किया । लेकिन तेल के कड़ाव में गिर जाने के भय से फिर कदम पीछे हटा लिया । सेठ पुत्र ने यह क्रिया दो-चार बार की, लेकिन सींके में बैठने का साहस नहीं हुआ ।

संयोग से उसी रात्रि को किसी चोर ने उसी नगर के राज भण्डार में चोरी की और रत्नों के दो-चार डिब्बे चुरा लिये । लेकिन महलों से निकलते समय सिपाहियों ने चोर को देख लिया और उसका पीछा किया, चोर भागता हुआ उसी जंगल में पहुँचा । वह उसी रास्ते से भाग रहा था जहाँ यह सेठ पुत्र विद्या की सिद्धि कर रहा था । भागते हुए चोर ने सेठ पुत्र को देखा और उससे पूछा कि वह यहाँ क्या कर रहा है ? सेठ पुत्र ने संक्षेप में सारा हाल सुना दिया तथा यह भी कहला दिया कि उसका साहस सींके में बैठने का नहीं हो रहा है । चोर ने रत्नों के डिब्बे नीचे पेड़ के पास ही रख दिये और जल्दी से ऊपर चढ़ गया । सेठ पुत्र से कहा कि क्या मन्त्रों का उच्चारण एवं विधि ठीक तरह पूर्ण हो गई है? सेठ पुत्र ने बताया कि सारा कार्य विधिवत पूर्ण हो गया है, केवल सींके में बैठना शेष है ।

चोर ने विचार किया कि इस सेठ पुत्र का पिता बहुत प्रमाणिक व्यक्ति था तथा पिता कभी अपने पुत्र का अहित नहीं चाहता, इसलिए विद्या में कोई सन्देह नहीं है । साथ ही उसने सोचा कि राजकीय सिपाही उसका पीछा कर रहे हैं सो पकड़ लेंगे तो मृत्यु दण्ड प्राप्त हो सकता है । फिर क्यों नहीं इस विद्या की परीक्षा की जावे । चोर श्रद्धा पूर्वक उस सींके में बैठ गया । चोर के बैठते ही सींके के धागे तड़ातड़ टूट गये और देखते ही देखते चोर आकाश में उड़ने लगा । सेठ पुत्र ताकता रह गया और चोर उसकी निगाह से अदृश्य हो गया । सेठ पुत्र पश्चाताप करने लगा और पेड़ से नीचे उतरा । पेड़ के पास उसे रत्नों के डिब्बे मिले जो चोर छोड़ गया था । सेठ पुत्र रत्नों के डिब्बे सहज में ही प्राप्त कर प्रसन्न हो

गया और विचार किया कि बिना विद्या की सिद्धि के ही रत्न मिल गये हैं, फिर क्या चाहिये ?

इधर सिपाही चोर के पद चिन्हों के आधार पर खोजते हुए उसी वृक्ष के नीचे आए और सेठ पुत्र को रत्नों के डिब्बे सहित पाया। चोर समझ कर सेठ पुत्र को पकड़ लिया गया। सेठ पुत्र गिड़गिड़ाया, कहने लगा- 'मैं चोर नहीं हूँ, चोर तो आकाश में उड़कर चला गया।' सेठ पुत्र की बात पर किसी ने विश्वास नहीं किया। उसे राजा के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। सेठ पुत्र ने राजा को सारा हाल सुनाया परन्तु उसे चोर घोषित कर दिया, क्योंकि चोरी का माल उसी के पास पाया गया था। सेठ पुत्र को कारागृह में डाल दिया गया।

सेठ पुत्र ने बहुत पश्चाताप किया और विचार किया कि यदि पिता के वचनों पर श्रद्धा करता तो मेरी ऐसी दुर्दशा नहीं होती।

इस कथा के माध्यम से विचार करना चाहिये कि अरिहन्त प्रभु ने संसारी प्राणियों पर दया कर उन्हें मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया है। जिन भव्य प्राणियों को वीतराग वचनों पर दृढ़ श्रद्धा है वे तो संवर-निर्जरा के सींके में बैठकर मोक्ष मार्ग की साधना कर सकते है और जो शंका करते हैं, जिनकी श्रद्धा निर्मल नहीं है, जिन्हें शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हुई है, वे चतुर्गति रूप कैद खाने में यातनाएँ सहन करते हैं। कवि ने भी कहा है-

सम्यग्ज्ञानी, सम्यग्दर्शी, सम्यग् संयमवान ।
उसी को मिलता है निर्वाण ॥

शास्त्र-शास्त्र में स्थान-स्थान पर बोल गये भगवान ।
उसी को मिलता है निर्वाण ॥

देव वहीं जो अरिहंत हो, गुरु वही जो निर्ग्रन्थ हो ।

धर्म वही जो दयापूर्ण हो, शास्त्र वही जो जिन भाषित हो।
जिस प्राणी की नस-नस में यों, अटल भरी श्रद्धान ।
उसी को मिलता है निर्वाण ॥

सम्यग् दर्शन के भेद-

जैन आगमों में विभिन्न अपेक्षाओं से सम्यग्-दर्शन के विभिन्न भेद किय हैं । मुख्य भेद तीन हैं-

(1) क्षायिक (2) ओपशमिक और (3) क्षायोपशमिक

सास्वादन सम्यक्त्व और वेदक सम्यक्त्व को जोड़ने पर कुल पाँच भेद हो जाते हैं ।

(1) क्षायिक सम्यग् दर्शन-

यह सम्यग् दर्शन का सर्वोत्तम रूप है । दर्शन मोह की तीन प्रकृत्तियाँ-सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय एवं अनन्तानुबन्धी चतुष्क-क्रोध, मान, माया एवं लोभ इन सातों प्रकृतियों के सर्वथा नष्ट होने पर क्षायिक सम्यग् दर्शन प्रगट होता है, अतः यह क्षायिक भाव की दृष्टि से पूर्ण विशुद्ध है । एक बार उत्पन्न हो जाने के बाद यह सम्यक्त्व सदा काल स्थायी रहता है, कभी नष्ट नहीं होता है । यदि पूर्व में आयुष्य कर्म का बन्ध नहीं किया हो तो इस सम्यक्त्व का धारक जीव उसी भव में मुक्त हो जाता है। उसमें मिथ्यात्व सर्वथा नष्ट हो जाता है ।

(2) ओपशमिक सम्यग् दर्शन-

सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय एवं अनन्तानुबन्धी चतुष्टक-क्रोध, मान, माया व लोभ इन सातों प्रकृत्तियों के उपशम अर्थात् अनुदय से जीव को ओपशामिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है । इसमें मिथ्यात्व सर्वथा नष्ट नहीं होता, परन्तु दब जाता है, जैसे अग्नि की उष्णता राख से दब जाती है ।

(3) क्षापोपशामिक सम्यग्दर्शन-

उपरोक्त वर्णित सात प्रकृतियों में से कुछ का क्षय और कुछ का उपशम होता है तब जीव को यह सम्यक्त्व प्राप्त होती है। विपाकोदय में आये हुए मिथ्यात्व के कर्म दलिकों को क्षय कर देना एवं विपाकोदय में नहीं आये हुए को उपशान्त करना क्षयोपशम कहलाता है।

इस अवस्था में सम्यक्त्व मोहनीय का उदय चालू रहता है।

जल के उदाहरण से तीनों अवस्थाओं को समझा जा सकता है। एक प्रकार का जल वह होता है जो पहले मलीन था लेकिन मेल को नष्ट कर निर्मल जल अलग कर लिया हो, जिसमें पुनः मेल उत्पन्न होने की सम्भावना न हो। दूसरे प्रकार का जल वह होता है जो मलिन होता है परन्तु रासायनिक विधि से मेल नीचे जम जाता है और जल स्वच्छ दिखता है, हिलाने पर पुनः मलिन हो सकता है। तीसरे प्रकार का जल वह होता है जो ऊपर से तो स्वच्छ प्रतीत होता है परन्तु मेल साफ दिखाई देता है। इसी प्रकार पहले प्रकार के सम्यक्त्व में मिथ्यात्व रूपी मेल पूर्ण नष्ट हो जाता है, दूसरे प्रकार में मिथ्यात्व दब जाता है पर सत्ता में रहता है तथा तीसरी दशा में मिथ्यात्व विपाक में शान्त होता है परन्तु प्रदेश में उदयाधीन रहता है। उपशम सम्यक्त्व में तो न रसोदय होता है और न प्रदेशोदय, परन्तु क्षयोपशम सम्यक्त्व में प्रदेशोदय होता है।

अन्य प्रकार के सम्यक्त्व भी उपरोक्त अवस्थाओं के वीच की अवस्थाएँ हैं।

(4) सास्वादन सम्यक्त्व-

उपशम सम्यक्त्व से गिरता हुआ जीव जव तक मिथ्यात्व अंवस्था में नहीं पहुँचता तब तक के वीच की अवस्था को सास्वादन सम्यक्त्व कहते है। दूसरे गुणस्थान में यह सम्यक्त्व पाया जाता है और स्थिति उत्कृष्ट छः आवलिका की होती है।

(5) वेदक सम्यक्त्व-

क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने के ठीक पूर्व की अवस्था को वेदक सम्यक्त्व कहते है । क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व की ओर अग्रसर होते समय सम्यक्त्व मोहनीय के अन्तिम दलिक का जो वेदन होता है उस एक समय मात्र की स्थिति को वेदक सम्यक्त्व कहते है । विस्तृत जानकारी के लिए अनुयोग द्वार, जिणधम्मो, कर्मग्रन्थ, जैन तत्त्व प्रकाश आदि ग्रन्थ देखें ।

सम्यग्दर्शन के लक्षण-

सम्यग्दर्शन के पाँच लक्षण होते हैं । वैसे तो तत्व श्रद्धान की अभिरूचि ही सम्यग्दर्शन है लेकिन व्यवहार में निम्न पाँच लक्षणों से सम्यग्दर्शन की पहचान होती है-

(1) सम या शम-

समभाव धारण करना अर्थात् विषम परिस्थितियों को कर्म परिणाम मानना, निमित्त को निमित्त के रूप में मानकर स्वयं कृत कर्म को स्वीकार करना ।

अनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक से कहा था-

अप्पाकत्ता विकत्ताय, सुहाण य दुहाण य ।

अर्थात् स्वयं की आत्मा ही सुख एवं दु:ख का कर्त्ता है, यही मित्र और शत्रु है । शुभ एवं अशुभ इसी आत्मा के परिणाम हैं । इसलिए सम्यग्दृष्टि विचार करता है-

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।

अर्थात् किये हुए कर्मों को भुगते बिना मुक्ति नहीं है । वह सुख में फूलता नहीं और दु:ख में दु:खित नहीं होता, रोता-बिलखता नहीं ।

(2) संवेग-

संवेग का तात्पर्य है सम्यक् वेग यानि धर्मानुराग रखना,

मोक्ष की अभिलाषा रखना संवेग है । संसार को दु:ख का कारण समझे एवं मोक्ष को ही अपना चरम लक्ष्य माने । तद्नुरूप पुरुषार्थ करने की तत्परता रखना ।

(3) निर्वेद-

आरम्भ परिग्रह से निवृत्त होना, संसार से उदासीन रहना निर्वेद है । सम्यक्त्वी को संसार खारा लगता है । वह सदैव उदासीन भाव में रहता है, वैराग्य भाव में रमण करता है ।

(4) अनुकम्पा-

दु:खी जीवों को देखकर हृदय में दया उत्पन्न होना सम्यग्दर्शन का एक प्रमुख लक्षण है । सम्यक्त्वी जीव संसार के समस्त प्राणियों को अपने समान समझते हैं । दु:खी को देखकर सम्यक्त्वी का हृदय करूणा से भर जाता है ।

(5) आस्था-

जिनेन्द्र भगवान की वाणी में दृढ़ विश्वास रखना आस्था है। यह तो सम्यग्दर्शन का मूल तत्व है । धर्म पर सम्यक्त्वी की दृढ़ आस्था होती है ।.

सम्यग्दर्शन के अंग-

प्राप्त सम्यग्दर्शन की रक्षा के लिए ज्ञानियों ने चार आवश्यक बातें बताई हैं । इनका पालन करने से सम्यग्दर्शन निर्मल बना रहता है । उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है-

परमत्थ संथवो वा, सुदिट्ठ परमत्थ सेवणा वावि ।
वावण कुदंसण वज्जणा य सम्मत्त सद्दहणा ॥

अर्थात् 1. परमार्थ संस्तव 2. परमार्थ सेवा 3. व्यापन्न वर्जन और 4. कुदर्शन वर्जना - यह सम्यक्त्व की श्रद्धान है।

(1) परमार्थ संस्तव- नव तत्व का ज्ञान, जिनवाणी, देव, गुरु, धर्म तत्व का सम्यग्ज्ञान ये मोक्ष के साधन हैं, इसलिए इनका

परिचय करना, गुणकीर्तन करना परमार्थ संस्तव है ।

(2) परमार्थ सेवा- परमार्थ के जानने वाले रत्नत्रय के धारक आचार्य, उपाध्याय, सन्त-महासतियाँजी की सेवा करना ।

(3) व्यापन्न विवर्जन- सम्यक्त्व का जिन्होंने त्याग कर दिया है उनकी संगति नहीं करना ।

(4) कुदर्शन वर्जन- मिथ्या मान्यता वालों की संगति न करना । मिथ्यात्वी की संगति से बचना ।

सम्यग्दर्शन के दोष-

निम्न पाँच कारणों से सम्यक्त्व दूषित होता है-

(1) शंका- जिनवाणी में संशय करना दोष है । कभी मानव की अल्पबुद्धि वीतराग वचनों के रहस्य को समझ नहीं पाती और स्थूल दृष्टि में जिनवाणी का अर्थ समाहित नहीं होता तो सम्यक्त्वी अपनी बुद्धि की अल्पता को स्वीकार करता है । लेकिन जिनवाणी में शंका नहीं करता । यदि जिनवाणी में शंका करे तो सम्यक्त्व में दोष लगता है । वीतराग प्रभु ने पानी की एक बूंद में असंख्यात जीव बताये हैं, वनस्पति में जीव बताया है, भाषा वर्गणा के पुद्गल मुँह से निकलते ही सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो सकते है आदि अनेक ऐसी बातें हैं जिन्हें हम प्रत्यक्ष देख नहीं पाते । लेकिन आज का विज्ञान इन्हें सिद्ध कर चुका है । तात्पर्य यह है कि जिनवाणी में शंका की संभावना नहीं है इसलिए शंका करना दोष है ।

(2) कांक्षा- अन्य मतावलम्बियों के आडम्बर को देखकर आकर्षित होवे और ग्रहण करने की अभिलाषा करे तो कांक्षा दोष है । धर्म का आडम्बर से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिनधर्म आडम्बर रहित आत्मा का कल्याण करने वाला है । इसलिए ऐसे उत्तम धर्म को छोड़कर अन्य धर्म की इच्छा करना दोष है ।

(3) विचिकित्सा- धर्म के फल में संदेह करना । संयम, तप आदि धार्मिक अनुष्ठानों का फल मिलेगा या नहीं इस प्रकार का संदेह करना विचिकित्सा दोष है ।

(4) परपाखण्ड प्रशंसा- वीतराग देव प्ररूपित धर्म के अलावा अन्य पाखण्ड मतों की प्रशंसा करना परपाखण्ड प्रशंसा दोष है ।

उपरोक्त पाँच दूषणों का सेवन करने से सम्यक्त्व मलिन होती है तथा नष्ट होने का भय रहता है । इसलिए विवेकवान सम्यग्दृष्टि इन दोषों से दूर रहता है ।

कतिपय आधुनिक विचारकों द्वारा विस्तारित तर्क जाल से भी सम्यग्दृष्टि अपने आपको निःशंकित रखता है । जैसे आधुनिक विचारों से अनुरंजित कई चिन्तक सम्यक्त्व की उत्पत्ति आत्मा से ही होना स्वीकार करते हैं । उनका कथन है कि सम्यक्त्व लेने-देने की वस्तु नहीं है, वह तो आत्मा का परिणाम है अतः किसी के बोध से सम्यक्त्व की प्राप्ति मानना उचित नहीं है । उक्त तर्क से आगम रहस्य से अनभिज्ञ वीतराग वाणी में संशयशील होता हुआ सम्यक्त्व से विचलित हो जाता है । किन्तु उपरोक्त तर्क आगम सम्मत एवं युक्ति संगत नहीं है क्योंकि तत्वार्थ सूत्र में स्पष्ट बताया है-

'तन्निसर्गादधिगमाद्वा'

अर्थात् वह (सम्यग्दर्शन) निसर्ग से एवं गुरु आदि के प्रतिबोध से प्राप्त होता है ।

गुरु द्वारा सम्यक्त्व ग्रहण किया जाता है यह आगम एवं युक्ति संगत है । आवश्यक सूत्र का 'अरिहंतो महदेवो' का पाठ जो पूर्व में उद्धृत किया गया है उसके चरमपद- 'इय सम्मत्तं मए गहियं' से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है । इसका तात्पर्य है कि अरिहंतदेव, निर्ग्रन्थ गुरु एवं केवली प्ररूपित तत्त्व को स्वीकार करने रूप यह सम्यक्त्व मैं ग्रहण करता हूँ । इसमें ग्रहण करने का जो

संकेत है उसमें गुरु के माध्यम से सम्यक्त्व ग्रहण करने का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। यदि सम्यक्त्व किसी आत्म परिणाम से प्राप्त होता, किसी के द्वारा प्राप्त नहीं करवाया जाता तो आगम में 'मए गहियं' पद नहीं आता। अतः वीतराग वाणी के रसिकों एवं श्रद्धालुओं को उपरोक्त आधुनिक विचारधारा से प्रभावित नहीं होते हुए निःशंकित भाव से सम्यग्दर्शन की आसेवना करनी चाहिये।

शंका का दुष्फल-

ज्ञाताधर्म कथा में शंका से होने वाले अनर्थ का वर्णन आया है। एक बार दो मित्र सागरदत्त एवं जिनदत्त वन भ्रमण को गये। एक स्थान पर उन्होंने मोरनी के दो अण्डे पाये। दोनों एक-एक अण्डा अपने घर ले गये। दोनों ने मुर्गियाँ बिठाकर अण्डे को सेना (परिपक्व करना) प्रारम्भ किया। कुछ दिनों बाद सागरदत्त को संदेह हुआ कि अण्डे में से मोर का बच्चा निकलेगा या नहीं, इसलिए अण्डे को हाथ में उठाकर देखा, हिला-हिला कर अण्डे की परीक्षा की तथा इस क्रिया को दो-चार बार दोहराया। पर जिनदत्त को पूर्ण विश्वास था कि अण्डा मोरनी का ही है अतः इसमें से मोर का बच्चा अवश्य निकलेगा। उसने सावधानी पूर्वक अण्डे की रक्षा की तथा अण्डे को छेड़ा भी नहीं। सागरदत्त वाले अण्डे का जीव अन्दर ही समाप्त हो गया और जिनदत्त वाले अण्डे में से एक छोटा-सा मोर का बच्चा निकला। जिनदत्त ने मोर के बच्चे को नाचना सिखा दिया। किसी अवसर पर सागरदत्त जिनदत्त के घर आया तो मोर के बच्चे का नाच देखा। जब सागरदत्त को यह ज्ञात हुआ कि यह वही मोर का बच्चा है जो जंगल से लाए अण्डे से प्राप्त हुआ है तो बहुत पश्चाताप हुआ क्योंकि अश्रद्धा के कारण उसने अपने पास के अण्डे को नष्ट कर दिया था। जिनदत्त ने समझाया कि शंकाशील व्यक्ति स्वयं भी दुःखी होता है और दूसरों को भी कष्ट में डाल देता है। अंग्रेजी के महान कवि एवं नाटककार शेक्सपीयर के 'ऑत्थेलो' नामक सेनाध्यक्ष को अपनी प्रिया एवं

सुन्दरतम पत्नी डेस्डेमोना पर झूठा चारित्रिक संदेह हो गया। उस तथ्यहीन शंका के कारण उसने चारित्र निष्ठ एवं प्रियतम पत्नी की हत्या कर डाली। जब उसे वास्तविकता का पता लगा तो वह अत्यन्त दुःखी हुआ। निःसंदेह शंका बहुत भयानक एवं अहितकारी है। नीतिकारी ने भी कहा है-

'संशयात्मा विनिष्यति'

अर्थात् संशयशील व्यक्ति यदि संशय में ही बना रहता है तो उसका विनाश होना स्वाभाविक है।

अतः शंका का त्याग कर धर्म पर दृढ़ श्रद्धा करना चाहिये। शास्त्रों में भी कहा है-

'सद्धा परम दुल्लहा'

अर्थात् धर्म पर श्रद्धा होना दुर्लभ है। रामभक्त हनुमान के लिए एक कथा प्रचलित है। हनुमान को भगवान श्रीराम पर अत्यन्त दृढ़ श्रद्धा थी। लंका पर चढ़ाई करने के लिए राम की सेना समुद्र के किनारे पर एकत्र हो गई परन्तु समुद्र को कैसे पार किया जावे यह एक कठिन समस्या थी। हनुमान को एक युक्ति सुझी। बड़-बड़े पत्थरों और शिलाखण्डों पर 'राम' का नाम लिखा गया और उन्हें पानी में डाला जाने लगा। वे भारी-भरकम पत्थर पानी में तैरने लगे। सेतु बन्ध तैयार होने लगा। यह अद्वितीय कार्य एक मात्र श्रद्धा के बल पर हो रहा था। श्रीराम और लक्ष्मण इस अपूर्व कला को देख आश्चर्यचकित हो गये। राम के मन में एक विचार आया- मेरे नाम से बड़े-बड़े पत्थर एवं शिलाखण्ड तैराये जा रहे हैं लेकिन क्या मैं किसी पत्थर को तैरा सकता हूँ या नहीं? मन में शंका उत्पन्न हुई। लक्ष्मण को भी अपने मन की बात नहीं कही। वहाँ से श्रीराम अलग हटकर एक ओर एकान्त स्थान पर समुद्र के किनारे पहुँच गये। उन्होंने एक छोटा कंकर उठाया और पानी में फैंक दिया। पत्थर का स्वभाव तो पानी में डूबना है, इसलिए कंकर पानी में डूब गया। राम अचम्भित रह गये। इधर-उधर देखने लगे

कि कहीं कोई देख तो नहीं रहा है अर्थात् श्रद्धा समाप्त होने पर सेतु बन्ध अपूर्ण रह जावेगा और लंका पहुँचना दुष्कर होगा । उन्होंने पाया कि कोई नहीं देख रहा है । परन्तु मन में उथल-पुथल मचने लगी, विचार आया मेरे नाम से विशाल शिलाखण्ड तैर रहे हैं और मैंने एक छोटा-सा कंकर पानी में फैंका वह डूब गया । आखिर बात क्या है ?

श्रीराम ऐसा सोच ही रहे थे कि हनुमान चलकर श्रीराम के पास आये । हनुमान श्रीराम के कंकर फैंकने की क्रिया देख रहे थे ।

उन्होंने कहा- 'भगवन् आप क्या विचार कर रहे हैं ? यह तो संसार प्रसिद्ध है कि जिसको भगवान् श्रीराम ग्रहण करते हैं, अपनाते हैं वह तिर जाता है, संसार सागर से पार हो जाता है और जिसे आप त्याग देते हैं, जिसका आप तिरस्कार कर देते हैं वह डूब जाता है । जिन पत्थरों पर आपश्री का नाम लिखा है अर्थात् आपने जिन्हें अपनाया है वे तो समुद्र में तिरेंगे ही । जिस कंकर को आपने फैंक दिया, त्याग दिया वह कैसे तैर सकता है ? इसलिए आपका फैंका हुआ कंकर डूब गया है । इसमें विचारने की बात ही क्या है ? यह तो प्रकृति का नियम है ।'

भगवान राम हनुमान की बात सुनकर मुस्कुराए ।

इस उदाहरण से कहना यही है कि भगवान राम पर भक्त हनुमान की कितनी प्रगाढ़ श्रद्धा थी ? श्रद्धा का कैसा अपूर्व उदाहरण है । श्रद्धा के फलस्वरूप ही तो सेतु बन्ध तैयार हो सका और हनुमान श्रीराम को अपने हृदय में बिठा सके ।

राम के द्वारा फैंके गये कंकर के डूब जाने का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि राम को अपने नाम पर इतना प्रगाढ़ विश्वास नहीं था जितना कि हनुमान को था । यह रामायण का एक प्रसंग है । आगम के धरातल पर यदि चिंतन करें तो वहाँ भी श्रद्धा के

अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। दृढ़ श्रद्धालु अरहणक श्रावक एवं प्रगाढ़ श्रद्धा सम्पन्न सुलसा का पहले उल्लेख किया ही गया है। अन्तगड़ सूत्र में सेठ सुदर्शन का वर्णन भी आप लोग श्रवण करते हैं। उसे प्रभु महावीर पर इतनी प्रबल श्रद्धा थी कि वह यक्ष से भी नहीं घबराया और दर्शन हेतु चल पड़ा। उसकी दृढ़ श्रद्धा के समक्ष यक्ष को भी हार माननी पड़ी।

मिथ्यात्व का स्वरूप-

सम्यग्दर्शन के स्वरूप पर विचार किया गया, उसके महत्व को समझने का प्रसंग भी आया। किन्तु तत्व को ठीक से समझने के लिए उसके विरोधी तत्व को भी समझना आवश्यक होता है। इसलिए सम्यग्दर्शन के साथ-साथ यहाँ संक्षेप में मिथ्यात्व के बारे में भी चिन्तन करना अपेक्षित है। मिथ्यात्व को समझकर उसका त्याग करने से आत्मा सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकती है।

मिथ्यात्व के भेद-

मिथ्यात्व के भेदों को समझने से उसका स्वरूप विशेष स्पष्ट हो सकता है।

प्रकारान्तर से मिथ्यात्व के पाँच, दस एवं पच्चीस भेद हैं। पच्चीस भेदों में सभी समाविष्ट हो जाते हैं इसलिए संक्षेप में पच्चीस भेदों का विवरण प्रस्तुत है-

(1) अभिग्रहिक मिथ्यात्व-

पूर्वजों से चली आ रही मिथ्या मान्यता को तत्व की परीक्षा के अभाव में पकड़े रहना, हठ पूर्वक किसी बात को पकड़ लेना और फिर उसे न छोड़ना अभिग्रहिक मिथ्यात्व है।

चार व्यवसायी व्यापार के लिए घर से विदेश के लिए रवाना हुए। मार्ग में किसी स्थान पर लोहे की खान से उन्हें लोहा

प्राप्त हुआ। सभी ने लोहा बांध लिया। आगे चलने प.
ताम्बा, पीतल, चाँदी, सोना एवं रत्न आदि की खानें आने पर
व्यापारी तो तुच्छ धातुओं को छोड़ते हुए मूल्यवान धातु ग्रहण करते
गये और अन्त में रत्न ग्रहण कर सुख और समृद्धि को प्राप्त हुए
परन्तु एक व्यापारी ने हठ पूर्वक प्रथम वार में ग्रहण किये गये लोहे
को नहीं त्यागा और अन्त में दुःखी हो गया। वास्तव में जो ऐसे
लोह वणिक की तरह तत्व का निर्णय किये विना हठ पूर्वक किसी
मान्यता को पकड़ लेते हैं, उन्हें मिथ्यात्व के कारण संसार में
परिभ्रमण करना पड़ता है।

(2) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व-

कुछ व्यक्ति हठाग्रही तो नहीं होते लेकिन तत्व के स्वरूप
को न समझने के कारण वे सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म, गुण-अवगुण,
स्व-पर, हित-अहित का निर्णय नहीं कर पाते। सभी धर्मों को समान
समझते है अर्थात् अच्छे और बुरे का भेद नहीं कर पाते। यह
अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है। संसार व्यवहार में तो वे सावधान रहते
हैं, रत्नों को तिजोरी में रखते है और पत्थरों को वाहर रखते हैं,
उनके अन्तर को समझते है, परन्तु धर्म के मामले में घोटाला कर
देते हैं। यह कहाँ तक उचित है ? सत्य और असत्य का निर्णय
करना तो आवश्यक है। गुड़ और गोबर को समान नहीं कहा जा
सकता।

(3) अभिनिवेशिक मिथ्यात्व-

कुछ व्यक्ति अपने मन में तत्व के स्वरूप को समझते हुए भी
अभिमान के कारण अपनी हठ को नहीं त्यागते हैं, अपनी मिथ्या
मान्यता से चिपके रहते हैं। यह अभिनिवेशिक मिथ्यात्व है। अपने
सिद्धान्त को मिथ्या समझते हुए भी कुतर्क द्वारा मिथ्या मान्यता का
पोषण करते हैं। ऐसे व्यक्तियों की स्थिति भी उसी प्रकार होती है
जिस प्रकार किसी सधवा स्त्री ने विदेश गये अपने पति को मरा
समझ कर वैधव्य अंगीकार कर लिया, लेकिन पति जीवित था तथा

विदेश से लौट आया । वह स्त्री प्रत्यक्ष में अपने पति को देख रही है, सभी सम्बन्धीजन भी यह स्पष्ट बता रहे हैं कि यही उसका पति है और वह स्वयं भी समझ रही है कि वही उसका पति है फिर भी मिथ्या लोक-लाज एवं अभिमान के कारण वैधव्य का त्याग न कर दुःखी जीवन व्यतीत करती है । तत्व के स्वरूप को समझकर मिथ्या मान्यता का त्याग कर, सत्य को अंगीकार करना सयानेपन का लक्षण है ।

(4) सांशयिक मिथ्यात्व-

वीतराग वचनों में शंका करना भी मिथ्यात्व है । वीतराग प्रभु तो जन कल्याण के लिए हितकर उपदेश देते हैं, सत्य उपदेश करते हैं । इस वाणी में शंका को कोई स्थान नहीं है । वीतराग वाणी में शंका करना सांशयिक मिथ्यात्व है ।

(5) अनाभोग मिथ्यात्व-

विचार शून्यता एवं अज्ञानता के कारण यह मिथ्यात्व होता है । सभी असंज्ञी जीवों में यह मिथ्यात्व पाया जाता है।

वैसे तो उपरोक्त पाँच प्रकार के भेदों में मिथ्यात्व के सभी भेदों का समावेश हो जाता है फिर भी अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए अन्य प्रकार के मिथ्यात्व के भेदों का वर्णन निम्न प्रकार है।

(6) धर्म को अधर्म समझे तो मिथ्यात्व । श्रुत धर्म और चारित्र धर्म को अधर्म मानना मिथ्यात्व ।

(7) अधर्म को धर्म समझना, हिंसा आदि में धर्म समझना मिथ्यात्व।

(8) जीव को अजीव समझे तो मिथ्यात्व ।

(9) अजीव को जीव समझे तो मित्यात्व ।

(10) साधु को असाधु समझे तो मिथ्यात्व ।

(11) असाधु को साधु समझे तो मित्यात्व ।

(12) संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग समझे तो मिथ्यात्व ।

(13) मुक्ति के मार्ग को संसार का मार्ग समझे तो मिथ्यात्व।

(14) आठों कर्मों से मुक्त को अमुक्त समझे तो मिथ्यात्व ।

(15) जो कर्मों से मुक्त नहीं हो ऐसे रागी-द्वेषी को मुक्त समझे तो मिथ्यात्व ।

(16) लौकिक मिथ्यात्व- वीतराग मत को छोड़कर लौकिक परम्पराओं में धर्म मानना । इसके भी तीन प्रकार हैं- 1. देवगत 2. गुरु-गत 3. धर्मगत ।

(17) लोकोत्तर मिथ्यात्व- वीतराग मार्ग को स्वार्थ भावना से अपनाना । जैसे- मैं यह धर्म स्वीकार करूँगा तो मुझे दैविक ऋद्धि मिलेगी आदि इस प्रकार वीतराग धर्म का भौतिक सुख के लिए पालन करना लोकोत्तर मिथ्यात्व है ।

(18) कुप्रावचनिक मिथ्यात्व- वीतराग प्रवचन को छोड़कर अन्य मिथ्या प्रवचनों में श्रद्धा करना ।

(19) न्यून मिथ्यात्व- जिनवाणी से न्यून (ओछी) प्ररूपणा करना, किसी तत्त्व के किसी अंश को छोड़ देना न्यून प्ररूपणा मिथ्यात्व है । जैसे- सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एकात्म रूप है, आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है आदि ।

(20) अधिक मिथ्यात्व- जिनवाणी में अपनी ओर से कुछ नवीन बात जोड़ देना अधिक प्ररूपणा मिथ्यात्व है ।

(21) विपरीत मिथ्यात्व- जिनवाणी के विपरीत कोई बात कहना विपरीत प्ररूपण मिथ्यात्व है ।

(22) अक्रिया मिथ्यात्व- आत्मा को अक्रियावादी मानना अर्थात् आत्मा को पुण्य-पाप की क्रिया नहीं लगती, ऐसा मानना । तथा- चारित्रवान की क्रियाओं को जड़ क्रियाएँ मानना, अक्रिया मिथ्यात्व है ।

(23) अज्ञान मिथ्यात्व- ज्ञान से अज्ञान को श्रेष्ठ मानना, हितकर बताना अज्ञान मिथ्यात्व है ।

(24) अविनय मिथ्यात्व- देव, गुरु, धर्म का अविनय करना, आज्ञा का पालन नहीं करना अविनय मिथ्यात्व है ।

(25) आशातना मिथ्यात्व- देव, गुरु धर्म की आशातना करना, निन्दा करना । तैंतीस प्रकार की आशातनाओं का शास्त्रों में वर्णन आया है जिन्हें जानबूझ कर करना आशातना मिथ्यात्व है ।

उपसंहार-

मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व के वास्तविक स्वरूप को समझकर मोक्षभिलाषी आत्माएँ ज्ञेय को जाने, हेय का त्याग करें और उपादेय को ग्रहण करें यही महापुरुषों की वाणी है। वीतराग वचनों पर दृढ़ श्रद्धा करने से ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो सकता है । श्रद्धा तो नितान्त आवश्यक है परन्तु अन्धश्रद्धा उचित नहीं है । सम्यग्दर्शी का ज्ञान सम्यग् ज्ञान होता है तथा चारित्र भी सार्थक होता है । इसके विपरीत सम्यग् श्रद्धान रहित की गई कठोर क्रिया भी केवल भौतिक सुख की प्रदात्री हो सकती है, किन्तु आत्मा का सम्यक् उत्कर्ष उससे सम्भव नहीं होता है जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र में नमिराज ऋषि शकेन्द्र से कहते हैं-

मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेण तु भुंजए ।
न सो सुयक्खाय धम्मस्स, कत्लं अग्घइ सोलसिं ॥

अर्थात् अज्ञानी व्यक्ति मास-मास की तपस्या करें और पारणे में कुशाग्र पर आवे उतना आहार करे, यह क्रिया निरन्तर करता रहे । फिर भी ऐसा कठोर तप ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं होता, उसके नवकारसी तप की बराबरी नहीं कर सकता । सम्यग्दृष्टि का तप सकाम निर्जरा है । भव भ्रमण घटाने वाला होता है और मिथ्यात्वी का तप अकाम

निर्जरा है । संसार बढ़ाने वाला होता है । अध्यात्म योगी आनन्दघनजी ने कहा है-

'देव गुरु धर्मनी शुद्धि कहो किम करे,
किम रहे शुद्ध श्रद्धान आणो ।
शुद्ध श्रद्धान बिन सब किरिया करी,
छार पर लिपणु तेह जाणो ॥

अर्थात् बिना शुद्ध श्रद्धा के सभी क्रियाएँ उसी प्रकार व्यर्थ हैं जिस प्रकार राख पर लींपना (लेप करना) व्यर्थ है ।

साधारण सम्यग्दृष्टि चारों गतियों का आयुष्य बाँध सकता है । विशिष्ट क्रियावादी सम्यग्दृष्टि वैमानिक देव के अलावा आयुष्य बन्धन नहीं करता । विशेष विस्तृत जानकारी 'सधर्म मण्डन' पुस्तक से प्राप्त की जा सकती है ।

कवि प्रार्थना की कड़ियों में यही कहता है कि हे वीतराग प्रभु ! मैं मिथ्यात्व को त्याग कर निज स्वरूप अर्थात् सम्यग् दर्शन को प्राप्त करूँ, आपने जो स्व-स्वरूप प्राप्त किया है उसे मैं भी प्राप्त करूँ ।

किं बहुना लिखितेन, संक्षेपादिदमुच्यते ।
त्यागो विषयमात्रस्य कर्तव्याऽखिल मुमुक्षुभिः ॥

भावार्थ- अधिक लिखने से क्या लाभ ? संक्षेप में यही पर्याप्त है कि मोक्ष के अभिलाषी को विषय मात्र का त्याग कर देना चाहिये ।

मूर्च्छा परिग्रहः ।

भावार्थ- मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति ही परिग्रह है ।

सम्यग्-चारित्र एक विश्लेषण

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यग्चारित्र को होना आवश्यक है । ये तीनों मिलकर ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करते हैं । ज्ञान एवं श्रद्धा के साथ-साथ आचरण भी होना चाहिये । क्रिया युक्त ज्ञान मोक्ष का साधन है । ज्ञान के अभाव में क्रिया अन्धी है तो क्रिया के अभाव में ज्ञान पंगु है । अतः ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र का सम्यक् एकाकार होना आवश्यक है । जिस प्रकार रोग निवारण के लिए औषधि का ज्ञान पर्याप्त नहीं, वरन् उसका सेवन भी आवश्यक हैं, उसी प्रकार जीवनोत्थान के लिए ज्ञान के साथ-साथ क्रिया और आचरण भी आवश्यक है ।

काकन्दी नगरी भली हो, श्री सुग्रीव नृपाल ।
रामा तस पटरानी हो, तस सुत परम कृपाल ॥
श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो, वन्दत पाप पुलाय ।
प्रभुता त्यागी राजवी हो, लीधो संजम भार ।
निज आतम अनुभव थकी, हो पाम्या पद अविकार ॥
श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो...

यह सुविधिनाथ प्रभु की प्रार्थना है । वैसे तो परमात्मा सभी प्रकार के नाम, जाति आदि विकल्पों से मुक्त है, परमात्म-स्वरूप है, सच्चिदानंद है, अनन्त ज्योति पुञ्ज है, अजर-अमर अविनाशी, निरंजन, निराकार, निर्विकल्प, निष्कलंक, निर्लेप, निष्काम है । वे अनन्त अव्याबाध सुख में विराजमान है । तदपि भूत-कालीन नय की अपेक्षा एवं पर्याय की विवक्षा से परमात्मा के विविध गुण और नामों का कीर्तन किया जाता है । इसी दृष्टि से यहाँ परमात्मा को 'सुविधिनाथ' कहा गया है ।

जैन दर्शन की तथ्य निरूपण शैली अपने आप में अनूठी है । वह विभिन्न दृष्टिकोणों को लेकर चलती है । प्रत्येक पदार्थ के विविध पहलू होते हैं जिन्हें जैनदर्शन में 'नय' से समझा जाता है, विचार किया जाता है । प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है अतः नय भी अनेक हो सकते हैं । कहा भी है-

जावट्टया वयणपहा तावट्टया चेवहुंति णयवाया ।

अर्थात् जितने वचन मार्ग हैं, उतने ही नय हैं । फिर भी उन्हें सात नयों में वर्गीकृत किया है ।

प्रस्तुत स्तुति में पर्याय नय की विवक्षा है । वर्तमान में सिद्ध स्वरूप में रही हुई आत्मा पूर्व में सुविधिनाथ तीर्थंकर के रूप में थी, अतएव उस भूत भाव को लेकर सिद्ध स्वरूप परमात्मा सुविधि जिनेश्वर कहा गया है । उन सुविधिनाथ परमात्मा करने के लिए कवि ने प्रेरणा दी है । साथ ही विश्वास

सम्यग्-चारित्र एक विश्लेषण

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यग्चारित्र को होना आवश्यक है । ये तीनों मिलकर ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करते हैं । ज्ञान एवं श्रद्धा के साथ-साथ आचरण भी होना चाहिये । क्रिया युक्त ज्ञान मोक्ष का साधन है । ज्ञान के अभाव में क्रिया अन्धी है तो क्रिया के अभाव में ज्ञान पंगु है । अतः ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र का सम्यक् एकाकार होना आवश्यक है । जिस प्रकार रोग निवारण के लिए औषधि का ज्ञान पर्याप्त नहीं, वरन् उसका सेवन भी आवश्यक हैं, उसी प्रकार जीवनोत्थान के लिए ज्ञान के साथ-साथ क्रिया और आचरण भी आवश्यक है ।

काकन्दी नगरी भली हो, श्री सुग्रीव नृपाल ।
रामा तस पटरानी हो, तस सुत परम कृपाल ॥
श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो, वन्दत पाप पुलाय ।
प्रभुता त्यागी राजवी हो, लीधो संजम भार ।
निज आतम अनुभव थकी, हो पाम्या पद अविकार ॥
श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो...

यह सुविधिनाथ प्रभु की प्रार्थना है । वैसे तो परमात्मा सभी प्रकार के नाम, जाति आदि विकल्पों से मुक्त है, परमात्म-स्वरूप है, सच्चिदानंद है, अनन्त ज्योति पुन्ज है, अजर-अमर अविनाशी, निरंजन, निराकार, निर्विकल्प, निष्कलंक, निर्लेप, निष्काम है । वे अनन्त अव्याबाध सुख में विराजमान है । तदपि भूत-कालीन नय की अपेक्षा एवं पर्याय की विवक्षा से परमात्मा के विविध गुण और नामों का कीर्तन किया जाता है । इसी दृष्टि से यहाँ परमात्मा को 'सुविधिनाथ' कहा गया है ।

जैन दर्शन की तथ्य निरूपण शैली अपने आप में अनूठी है । वह विभिन्न दृष्टिकोणों को लेकर चलती है । प्रत्येक पदार्थ के विविध पहलू होते हैं जिन्हें जैनदर्शन में 'नय' से समझा जाता है, विचार किया जाता है । प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है अतः नय भी अनेक हो सकते हैं । कहा भी है-

जावट्टया वयणपहा तावट्टया चेवहुंति णयवाया ।

अर्थात् जितने वचन मार्ग हैं, उतने ही नय हैं । फिर भी उन्हें सात नयों में वर्गीकृत किया है ।

प्रस्तुत स्तुति में पर्याय नय की विवक्षा है । वर्तमान में सिद्ध स्वरूप में रही हुई आत्मा पूर्व में सुविधिनाथ तीर्थंकर के रूप में थी, अतएव उस भूत भाव को लेकर सिद्ध स्वरूप परमात्मा को सुविधि जिनेश्वर कहा गया है । उन सुविधिनाथ परमात्मा को वन्दन करने के लिए कवि ने प्रेरणा दी है । साथ ही विश्वास दिलाया

कि यदि उन परमात्मा के वन्दन किया जाय तो सब पाप नष्ट हो जाते हैं ।

सुविधिनाथ वन्दनीय क्यों ?

प्रश्न हो सकता है कि सुविधिनाथ हमारे लिए क्यों वन्दनीय हैं और उनको वन्दन करने से पापों का नाश किस प्रकार हो सकता है ? इसका उत्तर स्वयं कवि ने दिया है-

प्रभुता त्यागी राजवी हो, लीधो संजम भार ।
निज आतम अनुभव थकी हो, पाम्या पद अविकार ॥

प्रभु सुविधिनाथ इसलिए वन्दनीय नहीं है कि वे संसार अवस्था में विशाल साम्राज्य के स्वामी थे अथवा अपार धन-वैभव उनके चरणों में लौटता था । वरन् वे वन्दनीय इसलिए हैं कि उन्होंने राज्य-सत्ता, धन-वैभव, भोग-विलास आदि का त्याग कर संयम का मार्ग अपनाया । संयम की साधना के द्वारा आत्मा के मौलिक स्वरूप का अनुभव किया है । आत्मा का साक्षात्कार करके परिपूर्ण केवलज्ञान प्राप्त किया और उसके विमल आलोक में जनकल्याण के लिए सुविधि का निर्देश किया, धर्म तीर्थ की स्थापना की और अन्ततः अविकार और शाश्वत सिद्ध स्वरूप को प्राप्त किया । उन सुविधिनाथ भगवान ने जगत के जीवों को सुविधि बताई, कल्याण का मार्ग बताया, कर्तव्य का बोध कराया और संसार सागर से पार होने का तौर-तरीका, विधि-विधान समझाया ।

प्रभु के मार्ग को अपनाओ-

प्रभु सुविधिनाथ के मार्ग का अनुसरण करने वाला सब पाप बन्धनों से मुक्त होकर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है । यदि जगत के दुःखों से उबरना है, सुख पाना है तो प्रभु के मार्ग को अपनाना होगा ।

सुविधि की विधि-

प्रश्न होता है कि वह कौनसा मार्ग है, कौनसी विधि है ? जो उन सुविधिनाथ परमात्मा ने बताई है । इसका संक्षिप्त एवं उपयुक्त उत्तर है-

'सुहे पवित्ती असुहाओ विणिवित्ती ।'

अर्थात् शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति करना सुख का मार्ग है, सुख की विधि है ।

सम्यग् चारित्र

आज पर्युषण पर्व का चतुर्थ दिवस है । गत तीन दिनों में क्रमशः धर्म, ज्ञान एवं दर्शन के सम्यक् स्वरूप पर चर्चा की गई । आज चरित्र के बारे में अर्थात् शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति कैसे हो इस पर प्रकाश डालना है ।

उत्तराध्ययन सूत्र के 28 वें अध्याय में कहा है-

नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण णिगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ ॥

अर्थात् ज्ञान से वस्तु के स्वरूप को समझा जाता है, दर्शन से श्रद्धा होती है, चारित्र के द्वारा आश्राव को रोका जाता है तथा तप के द्वारा पूर्व काल में उपार्जित कर्मों को क्षय किया जाता है ।

ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्ष-

हमें समझना यह है कि ज्ञान और श्रद्धा कर लेने मात्र से ही कार्य चलने वाला नहीं है । जब तक जीवन में चारित्र के रूप में उसे अपनाया नहीं जावेगा, जीवन में उसे उतारा नहीं जावेगा तब तक कार्य चलने वाला नहीं है । ज्ञान और श्रद्धा के साथ उस पर आचरण आवश्यक है । तत्वार्थ सूत्र की प्रथम पंक्ति में ही संकेत दिया है-

'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः'

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष मार्ग के साधन हैं । जब तक तीनों का समन्वय नहीं होता, एकाकार नहीं होता, तीनों सम्यक् नहीं होते तब तक मोक्ष का मार्ग प्रशस्त नहीं होता ।

कोई व्यक्ति विभिन्न मिठाइयों के नाम जान लेवे, विभिन्न व्यंजनों के नाम याद कर लेवे, विभिन्न लाभदायक औषधियों के नाम से परिचित हो जावे, उन सब पर श्रद्धा भी कर लेवे, परन्तु जब तक उनका सेवन न करे, तब तक उनके रसास्वादन के आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकता । इसका यह अभिप्राय नहीं है कि ज्ञान एवं दर्शन महत्वपूर्ण नहीं है । वे तो आवश्यक एवं महत्वपूर्ण हैं ही, लेकिन लक्ष्य का अन्त इनमें नहीं है । लक्ष्य की सिद्धि तो ज्ञान एवं दर्शन के साथ चारित्र को जोड़ने पर ही है । अपने-अपने स्थान पर सभी का महत्व है । ज्ञान के सथ क्रिया होनी चाहिये । कहा भी है-

'ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्षः'

ज्ञान क्रिया युक्त होना चाहिये । क्रिया युक्त ज्ञान मोक्ष का साधन है ।

चारित्र के बिना ज्ञान भार है-

तत्व के स्वरूप को समझकर हेय का त्याग आवश्यक है तथा उपादेय को जीवन में ग्रहण करना चाहिये । ज्ञान का सार है कि उपादेय को जीवन में उतारा जावे अन्यथा ज्ञान भी भार स्वरूप हो जाता है । भारवाहक मजदूर मिश्री, बादम या अन्य स्वादिष्ट एवं लाभदायक वस्तुओं को उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है । लेकिन उसे मिश्री के स्वाद का अनुभव नहीं हो सकता, वह तो भार रूप ही है । स्वाद का अनुभव तो वही कर सकता है जो उसे खाता है कवि ने भी कहा है-

जहां खरो भार वाही, भारस्स भागी न हु चन्दणस्स ।

गधे की पीठ पर चन्दन जैसे बहुमूल्य पदार्थ को लाद दिया जाता है, लेकिन उसके लिए तो वह भी मिट्टी-पत्थर के समान ही है। गधे को चन्दन के उपयोग का, चन्दन के गुणों का क्या अनुभव है ? वह तो केवल भार वाहक है । उस पर चाहे चन्दन लाद दें, मिट्टी लाद दें, रसगुल्ले का बर्तन रख दें या भले ही गोबर आदि भार भर दें, उसके लिए तो सभी भार स्वरूप है । उनका भेद उपभोक्ता ही कर सकता है । इसी प्रकार क्रिया के अभाव में ज्ञान भार स्वरूप होता है । कहा भी है-

'ज्ञानं भारः क्रिया बिना'

कुछ दर्शन एवं धर्म ऐसे हैं जो मात्र क्रिया रहित ज्ञान को मुक्ति का साधन बताते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो केवल क्रिया को (ज्ञान रहित क्रिया को) मुक्ति का उपाय बताते हैं । परन्तु जैन दर्शन का यह सिद्धान्त नहीं है । जैनदर्शन में ज्ञान एवं क्रिया का समन्वय आवश्यक माना गया है । दोनों अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं । कथनी-करनी की एकरूपता होनी चाहिये । यही मुक्ति का साधन-मुक्ति का मार्ग है ।

एक बार किसी व्यक्ति के घर में चोर ने प्रवेश किया। गृहिणी की नींद खुल गई और उसने अपने पति को धीरे से जगाकर कहा कि घर में चोर घुसा है । पति भी जाग रहा था उसने कहा- 'मैं जानता हूँ ।' चोर ने तिजोरी, पेटी आदि के ताले तोड़ डाले, सामान एकत्रित कर लिया, बाँध लिया, लेकर जाने लगा और पत्नी ने बार-बार सचेत किया, पर हर बार पति का यही उत्तर था- 'मैं जानता हूँ ।' अन्त में चोर सामान लेकर रवाना हो गया और पति यही कहता रहा- 'मैं जानता हूँ ।' पत्नी को अन्त में यही कहना पड़ा-

जानू-जानू कर रह्या, माल गयो अति दूर ।
मैं कहूँ आपसे, ऐसा जाण पणा में धूर ॥

विचार कीजिये ऐसे ज्ञान से क्या लाभ होने वाला है ।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने तो यहाँ तक कहा है- 'मस्तिष्क में भरे हुए ज्ञान का जितना अंश काम में लाया जाय उतने का ही कुछ मूल्य है, बाकी तो सब व्यर्थ का बोझ है ।'

इसलिए ज्ञानियों का कथन है कि ज्ञान एवं क्रिया का समन्वय करो । अन्धे और लंगड़े की कथा आपने सुनी होगी। एक अन्धे और एक लंगड़े में मित्रता हो गई । पहले दोनों बड़ी कठिनाई से जीवन चलाते थे । दोनों ने समाधान खोजा । अंधे ने लंगड़े से कहा- 'अरे भाई ! तुम पैर से अशक्त हो और मैं आँख से अन्धा हूँ, मैं चल तो सकता हूँ, पर देख नहीं सकता और तुम देख सकते हो, पर चल नहीं सकते । तुम मेरे कन्धे पर बैठ कर मुझे मार्ग दिखाओ । लंगड़े ने स्वीकार कर लिया । दोनों का जीवन सुखमय हो गया ।

ज्ञान के अभाव में क्रिया अन्धी है तो क्रिया के अभाव में ज्ञान पंगु है ।

चारित्र का क्या अर्थ है-

चयस्य रिक्तिकरणं चारित्रम्

अर्थात् पूर्व अर्जित कर्म मल से जो छुड़ावे वह चारित्र है । 'चारित्र=चय+रिक्त' संचित कर्मों से रिक्त होना चारित्र है । जिसको जीवन में उतारा जावे, जो आचरण में आवे वह चारित्र है ।

चारित्र धर्म के दो भेद बताये हैं- 1. आगार धर्म 2. अणगार धर्म । आगार धर्म आंशिक चारित्र है, देश चारित्र है और अणगार धर्म सकल चारित्र है, पूर्व चारित्र है ।

आगार धर्म-

जो जीव पाँच महाव्रतों का पूर्ण रूप से पालन नहीं कर सकते हैं वे श्रावक के व्रतों को ग्रहण करते हैं, आंशिक रूप से चारित्र का पालन करते हैं । यह देश चारित्र कहलाता है । इन व्रतों

का पालन करने वाला श्रावक कहलाता है । श्रावक के बारह अणुव्रत होते हैं । महाव्रतों की अपेक्षा छोटे होने से इन्हें अणुव्रत कहते हैं । महाव्रत तीन करण और तीन योग से पाले जाते हैं जबकि अणुव्रत एक करण एक योग से लगाकर दो करण तीन योग तक पाले जा सकते हैं । महाव्रतों में हिंसादि का पूर्ण रूपेण त्याग होता है किन्तु अणुव्रतों में आंशिक त्याग होता है । इसलिए अणुव्रत, महाव्रतों की अपेक्षा छोटे होते हैं । जो व्यक्ति संयम मार्ग की आराधना नहीं कर सकते वे सद्गृहस्थ श्रावक व्रत का पालन कर आगार धर्म की आराधना कर अपने जीवन को उन्नत बना सकते हैं । आगार का अर्थ है-घर और जो गृह त्याग किये बिना ही साधना के पथ पर अग्रसर होना चाहते हैं, वे श्रावक धर्म को जीवन में स्थान देते हुए देश चारित्र की आराधना कर सकते हैं । संसार में रहते हुए, सांसारिक क्रियाओं को करते हुए भी ऐसे जीव जल, कमलवत् निर्लेप रहने एवं सांसारिक प्रपंचों से मुक्त होने की भावना रखते हैं ।

आगार का दूसरा अर्थ है छूट । जिनके त्याग परिपूर्ण नहीं हों, त्याग में कुछ छूट हो, त्याग का पालन आंशिक रूप से किया जावे उसे आगार धर्म कहते हैं । यह अणगार धर्म की अपेक्षा सरल मार्ग है ।

शास्त्रों में आगार धर्म का भी महत्वपूर्ण उल्लेख मिलता है । उपासक दसांग सूत्र में आनन्द, कामदेव आदि दस प्रधान श्रावकों के जीवन वृतान्त का उल्लेख है । भयंकर विपदाओं में भी भगवान् महावीर के ये अनुयायी सुश्रावक धर्म मार्ग से विचलित नहीं हुए । कामदेव आदि कई श्रावकों की देवों ने विभिन्न प्रकार से परीक्षा ली, जिसमें वे दृढ़धर्मी श्रावक उत्तीर्ण हुए, अपने धर्म से डिगे नहीं । इसीलिए कहा है-

जो दृढ राखे धर्म को, ताही राखे करतार ।
जो छोड़े धर्म को, वह डूबे काली धार ॥

अरहणक श्रावक का वृतांत आपने सुना ही होगा । उसका मन धर्म में दृढ़ रहने से देवता भी नतमस्तक हो गया । इसीलिए कहा गया है-

'देवा वि तं नमं संति जस्स धम्मे सयामणो ।'

कहने का तात्पर्य यह है कि कैसे-कैसे महान श्रावक हो गये हैं । कामदेव श्रावक की भी देव ने परीक्षा ली, परिषह दिये । एक रात्रि में तीन कठोर एवं भयंकर उपसर्ग दिये परन्तु वह धर्म पर अटल रहे । धर्म को छोड़ा नहीं । आगमों में ऐसे कई उदाहरण उपलब्ध हैं । पूणिया श्रावक की सामायिक की बात आप कई बार सुन चुके हैं । मगध सम्राट महाराजा श्रेणिक ने अपना सम्पूर्ण वैभव दाव पर लगा दिया, परन्तु पूणिया श्रावक की एक सामायिक भी क्रय करने में सक्षम नहीं हुआ । वास्तव में हम विचार करें कि क्या सामायिक जैसी आध्यात्मिक वस्तु को भौतिकता से आंका जा सकता है ? कतई नहीं । सामायिक तो आत्मा की वस्तु है । पूणिया श्रावक का जीवन सामायिक अर्थात् समभाव से ओत-प्रोत था । सामायिक उसके जीवन में उतर चुकी थी । रोम-रोम और रग-रग में समभाव व्याप्त था । यही सामायिक का अर्थ है, सार है । श्रावक की सामायिक दो करण तीन योग की होती है तथा काल विशेष के लिए होती है । संयमी मुनिराजों की सामायिक तीन करण-तीन योग की जीवन पर्यन्त होती है । सामायिक जितने भी समय की हो देश से हो या सर्व से, वह जीवन में उतरनी चाहिये । जीवन में समता रस का संचार हो तो समझना चाहिये कि सामायिक का जीवन से तादात्म्य सम्बन्ध हो गया है । पर्युषण पर्व के पावन प्रसंग से यह भव्य अवसर प्राप्त हुआ है कि सामायिक के स्वरूप को समझें उसे जीवन में उतारें ।

अवसर बीत्यो जात है, अपने वश कुछ होत ।
पुण्य छतां पुण्य होत है, दीपक-दीपक ज्योत ॥

यदि यह शुभ अवसर खो दिया तो पश्चाताप करना पड़ेगा।

जो संयम ग्रहण नहीं कर सकते हैं उन्हें श्रावक के व्रतों को अंगीकार करना चाहिये। श्रावक के बारह व्रत होते हैं, जिनके तीन विभाग हैं- पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत।

पाँच अणुव्रत-

स्थूल प्राणातिपात से विरत होना पहला अणुव्रत है। इस अणुव्रत का पालक श्रावक निरपराधी, त्रस जीवों को मारने की (आकुटी) बुद्धि से मारने का त्याग करता है। सापराधी को दण्ड देता हुआ श्रावक इस व्रत का उल्लंघन नहीं करता। यही कारण है कि इस नैतिकता को अक्षुण्ण रखने हेतु रखने हेतु महाराज चेड़ा ने अपने दोहित्र कुणिक के साथ युद्ध किया था। इसका विस्तृत विवरण शास्त्रों में मिलता है। हांलाकि श्रावक अपराधी को विविध प्रकार से समझाकर उसे अनीति से हटाने का प्रयास करता है, किन्तु कदाचित् अपराधी अनैतिकता एवं उद्दण्डता नहीं छोड़ें तो लाचार होकर दण्ड नीति अपनानी पड़ती है।

दूसरे अणुव्रत में श्रावक स्थूल मृषावाद का त्याग करता है। लोक में अपवाद हो एवं राजा द्वारा दण्डित किया जाय ऐसी मृषा भाषा का प्रयोग द्वितीय अणुव्रत के पालक श्रावक को नहीं करना चाहिये।

अचौर्य अणुव्रत में श्रावक स्थूल अस्तेयवृत्ति का परित्याग करता है अर्थात् खात खन करके, ताला तोड़कर, चोरी करना श्रावक का कर्तव्य नहीं है। श्रावक की भावना सूक्ष्म अस्तेय-वृत्ति से भी निवृत्त होने की रहती है। पर पारिवारिक आदि परिस्थितियों से वह पूर्णतया निवृत्त नहीं हो सकता। जैसे किसी व्यक्ति की पुस्तक उस व्यक्ति की बिना अनुमति के उठाना अथवा पढ़ना सूक्ष्म चोरी की कोटी में है। किन्तु ऐसी चोरी का श्रावक अवस्था में पूर्णतया पालन होना अति दुष्कर है। अतः श्रावक स्थूल चोर वृत्ति से विरत होता हुआ स्थूल अचौर्य व्रत का पालन कर सकता है।

स्वदार अर्थात अपनी पत्नी में संतोष करना, परस्त्री को माता एवं बहिन के तुल्य मानना स्वदार संतोष, परदार विवर्जन चौथा अणुव्रत है । इस अणुव्रत के माध्यम से श्रावक को मैथुन कर्म की छूट नहीं दी है बल्कि गृहस्थावस्था में रहते हुए भी संयमित रहने का निर्देश दिया गया है । स्वदार संतोष का तात्पर्य है कि अपनी विवाहिता पत्नी के साथ भी संयमित रहे अर्थात् मर्यादा रखे । काम-भोग की आसक्ति को शनैः शनैः कम करता हुआ पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना का इच्छुक रहे ।

परिग्रह परिमाण व्रत में धन-धान्य, दास-दासी आदि परिग्रह का परिमाण करे । इस व्रत के माध्यम से प्रभु महावीर ने श्रावक को सन्तोषी होने का पाठ पढ़ाया है । परिग्रह का जितना परिमाण होगा, उतनी ही तृष्णा कम होगी। परिग्रह का परिमाण, मर्यादा नहीं रखने से तृष्णा में वृद्धि होती जाती है । इसके लिए ज्वलंत उदाहरण आगम में कपिल केवली का मिलता है ।

उक्त पाँचों अणुव्रतों में वर्तमान देश, काल और भाव की दृष्टि से श्रावक द्वितीय एवं तृतीय अणुव्रत की सम्यक् पालना कदाचित् नहीं कर सकता पर अन्य अणुव्रतों की पालना में उसे सरकार की तरफ से कोई अड़चन पैदा होने वाली नहीं है । अतः बन सके तो पाँचों अणुव्रतों को स्वीकार करना चाहिये, नहीं तो जितने व्रतों का पालन कर सकता हो उतने व्रतों को ग्रहण करते हुए श्रावक धर्म की आराधना करनी चाहिये ।

तीन गुणव्रत-

दिगव्रत में पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, उर्ध्व और अधो उक्त छहों दिशाओं में गमनागमन की सीमा निर्धारण करना चाहिये । इससे भी तृष्णा पर अंकुश लगता है ।

सातवां व्रत- याने दूसरा गुणव्रत उपभोग परिभोग परिमाण **व्रत है । इस व्रत** की आराधना करने से श्रावक जीवन के आत्मिक

गुणों का विकास होता है तथा विवेक- शीलत
इससे दैनिक चर्या को नियमित किया जाता है ।
कर्म से निवृत्त हो सकता है ।

इस व्रत में महारंभ अर्थात् विशेष कर्मबन्ध हो
में प्रवृत्त होने का भी निषेध किया गया है, जिन्हें पन्द्र ...ादान कहते हैं । उक्त व्रतधारी श्रावक पन्द्रह कर्मादानों का त्याग करके अपने जीवन को धार्मिक दिशा में विशेष अग्रसर करता है ।

अनर्थदण्ड से विरति होना तीसरा गुणव्रत है । इस व्रत में श्रावक सार्थक हिंसा का आगार रखता हुआ अनर्थक- निरर्थक हिंसा का त्याग कर देता है ।

चार शिक्षाव्रत-

प्रथम शिक्षाव्रत में श्रावक सामायिक का नियम रखता है एवं शुद्ध सामायिक की आराधना करने को कटिबद्ध रहता है ।

दूसरे शिक्षाव्रत में श्रावक देशावकाशिक व्रत की आराधना चौदह नियम, संवर, दया (छः काया) रात्रि पौषध (दशवां पौषध) आदि के माध्यम से कर सकता है । उक्त सभी व्रत-नियम देशावकाशिक व्रत के अन्तर्गत माने गये हैं ।

तीसरे शिक्षाव्रत में श्रावक प्रतिपूर्ण पौषधव्रत की आराधना करता है । इस पौषध में चारों आहार का प्रत्याख्यान करना अनिवार्य है । इसी तरह अब्रह्मचर्य का त्याग भी अपेक्षित है । यह पौषध अहोरात्र प्रमाण होता है अर्थात् इस व्रत की आराधना पूरे 24 घण्टे तक होना आवश्यक है ।

चौथा शिक्षाव्रत अथवा बारहवां श्रावक व्रत अतिथि संविभाग व्रत है । इसमें श्रावक अपने हिस्से के आहार आदि में भी अतिथि के लिए संविभाग करने की भावना रखता है । उत्कृष्ट अतिथि पंच महाव्रतधारी निर्ग्रन्थ मुनिराजों को 14 प्रकार के दान देने की

.खता है एवं अवसर आने पर प्रफुल्लित भावों से दान देता था।

उपरोक्त प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार होते हैं, जिनके सेवन से व्रत दूषित हो जाते हैं। इसलिए इन अतिचारों की भी जानकारी अवश्य करनी चाहिये, पर उनका आचरण नहीं करना चाहिये। जैसा कि शास्त्रकार संकेत करते हैं :-

'पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा'

इस प्रकार श्रावक व्रतों की आराधना करता हुआ गृहस्थावस्था में भी आदर्श उपस्थित कर सकता है। प्रभु महावीर द्वारा निरूपित आनन्द आदि श्रावकों का आदर्श जीवन आज भी हमारे समक्ष है। आप लोगों ने भी उनका जीवन वृत्तांत सुन रखा होगा, पर केवल सुनकर ही नहीं, उसे यथाशक्ति जीवन में अपनाएँ। 12 व्रत के अनुरूप जीवन बनाने से ही श्रावक जीवन की सार्थकता है।

अणगार धर्म-

देश चारित्र पर विचार करने के बाद थोड़ा सकल चारित्र के स्वरूप को भी समझ लें। जो भव्य आत्मा जीवन पर्यन्त पाँच महाव्रतों का पूर्ण रूप से पालन कर सकते हैं वे अणगार धर्म को अंगीकार करते हैं। ऐसे संयमी मुनिराज सभी प्रकार से हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील एवं परिग्रह का मन, वचन, काया से पूर्ण त्याग करते हैं। वे उपरोक्त हिंसा आदि पाँचों पापों का तीन करण, तीन योग से त्याग करते हैं अर्थात् वे मन से, वचन से एवं काया से न हिंसादि करते हैं, न कराते हैं और न करने वाले का अनुमोदन ही करते हैं।

साधु के लिए अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह ये पाँचों महाव्रत सार्वभोम हैं। पाँच महाव्रतों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है-

(1) अहिंसा महाव्रत-

यह पहला महाव्रत है । संयमी साधक पूर्ण अहिंसक होते हैं, वे छोटे से छोटे जीवों की मन, वचन, काया से हिंसा न स्वयं करते है, न दूसरों से करवाते है और न करने वाले का समर्थन ही करते हैं । उनका हृदय करूणा से परिपूर्ण होता है ।

नागश्री ने एक दिन धर्मरूचि अणगार को एक माह की तपस्या के पारणे के दिन कड़वे तुम्बे की शाक बहरा दी । गुरु महाराज ने शाक देखते ही अनुमान लगा लिया कि यह तो विष के समान कटु है इसलिए इसे कहीं निर्वद्य स्थान पर परठा देना चाहिये । मुनिराज शाक परठने के लिए एकान्त स्थान पर गये । शाक की कुछ बुन्दें भूमि पर डाली। देखते ही देखते शाक की महक से अनेक चींटियाँ एकत्र हो गई । उसको खाने से वे मृत्यु को प्राप्त हो गई । अणगार का हृदय द्रवित हो उठा । विचार किया कि कुछ बुन्दों ने ही जब इतनी सारी चींटियों के प्राण ले लिये हैं तो इतनी सारी शाक से न जाने कितने निर्दोष जीव मारे जावेंगे । गुरु ने निर्वद्य स्थान के लिए कहाँ है । यहाँ तो मेरा यह शरीर ही निर्वद्य स्थान दिखाई देता है । मुनिराज शाक को खा गए । उससे उनको भयंकर वेदना हुई । किन्तु मुनिराज ने समभाव पूर्वक वेदना को सहन किया और समधिमरण के साथ प्राणों का उत्सर्ग किया । धन्य है धर्मरूचि अणगार जिन्होंने चींटियों पर करूणा करके अपनी जान की भी परवाह न की । उन्होंने समझ लिया कि मैं (आत्मा) भिन्न हूँ और यह नश्वर शरीर भिन्न है।

यही कारण है कि अहिंसा महाव्रतधारी किसी भी प्रकार के वाहन का उपयोग नहीं करते । छोटे से छोटे जीवों की रक्षार्थ पैदल यात्रा करते हैं, वह भी खुले पैर । पैर में भी किसी तरह के जूते-चप्पल नहीं पहनते । वे अपने निमित्त वनाया हुआ आहार आदि भी ग्रहण नहीं करत्ते । संयमी जीवन के निर्वाह हेतु भिक्षा-चर्या करते हैं । उनके ठहरने के लिए निजी कोई मकान भी नहीं होता । श्रावक

वर्ग के अपने धर्मानुष्ठान हेतु जो पौषधशाला होती है उसमें अथवा धर्मशाला आदि जो प्रासुक मकान मिल जाता है उसी में वे ठहरते हैं । प्रासुक मकान के अभाव में वृक्ष के नीचे ठहर कर भी समय निकाल सकते हैं । सूर्योदय के पूर्व एवं सूर्यास्त के पश्चात् अनावश्यक गमणागमन भी नहीं करते । संयम सुरक्षार्थ जो प्रमणोपेत वस्त्र होते हैं उनकी भी दो वक्त प्रतिलेखना करते हैं । खुले मुँह नहीं बोलते । अग्नि आदि की तापना नहीं लेते। विद्युत परिचालित किसी भी यन्त्र का उपयोग नहीं करते हैं । गर्मी में पंखे आदि से हवा का सेवन नहीं करते । कच्चे पानी का उपयोग तो दूर उसका स्पर्श भी नहीं करते । मकान बनाने आदि आरम्भजनिक कार्यों का उपदेश भी नहीं देते । इस प्रकार छोटे से छोटे प्राणियों की दया भावना से वे अहिंसा महाव्रती जगत के समस्त जीवों के अभयदाता बन जाते हैं ।

(2) सत्य महाव्रत-

सत्य महाव्रत में तीन करण तीन योग से असत्य का परिहार किया जाता है । अर्थात् जैन श्रमण किसी भी तरह का असत्य वचन व्यवहार नहीं करता तथा सत्य वचन भी अप्रियकारी नहीं बोलता । दशवैकालिक सूत्र के अध्याय 7 में जैन श्रमण का वचन व्यवहार किस प्रकार का हो इसका विस्तृत विवेचन है । उसका सार यह है कि निर्ग्रन्थ मुनि - कर्कश, कठोर, छेद, भेद निश्चयकारी, हिंसाकारी पर जीव को पीड़ाकारी, सावद्य-सपापकारी एवं मिश्र भाषा को वर्ज कर प्रिय एवं मधुर भाषा का प्रयोग करता है ।

卐 कर्कशकारी- जो भाषा कर्ण को कटु एवं व्यंग्यकारी लगती हो उसे कर्कशकारी भाषा कहा जाता है ।

卐 कठोरकारी- अन्धे को अन्धा एवं काणे को काणा कहना कठोर भाषा कही गई है ।

卐 निश्चयकारी- मैं अमुक समय, अमुक कार्य करूँगा,

अमुक समय विहार करूँगा, व्याख्यान दूँगा आदि निश्चयात्मक भाषा का प्रयोग करना निश्चयकारी भाषा है ।

卐 हिंसाकारी- जिससे प्राणियों के प्राणों का अतिक्रमण हो वह भाषा हिंसाकारी है ।

卐 छेदकारी- जीवों के अंगों के छेदन-भेदन करने रूप भाषा को छेदकारी भाषा कहते हैं ।

卐 भेदकारी- किसी की गुप्त बात को प्रकट करना भेदकारी भाषा है ।

卐 परजीवी को पीड़ाकारी- जिस भाषा से दूसरे जीवों के प्राणों का अतिक्रमण तो नहीं होता पर पीड़ा होती है ऐसी भाषा परजीवी को पीड़ा पहुँचाने वाली होती है ।

卐 सावद्य सपापकारी- गृहस्थाश्रम के आरम्भ, समारम्भ सम्बन्धी भाषा का प्रयोग करना अथवा खुले मुँह बोलंना सावद्य सपापकारी भाषा है ।

卐 मिश्र भाषा- जिसमें सत्य एवं असत्य का सम्मिश्रण हो उसे मिश्र भाषा कहते हैं ।

उक्त प्रकार की भाषा जैन श्रमण को क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय एवं विकथा आदि के वशीभूत होकर भी नहीं बोलनी चाहिये ।

(3) अचौर्य महाव्रत-

इसमें अदत्तादान से विरति होती है । यह भी तीन करण एवं तीन योग से ग्रहण किया जाता है ।

दत्त का अर्थ है- दिया हुआ और अदत्त का अर्थ है विना दिया हुआ । आदान का अर्थ है ग्रहण क़रना अर्थात् अन्य के स्वामित्व की वस्तु को उस स्वामी के बिना प्रदान किये स्वतः ग्रहण

नहीं कर सकता । दाता द्वारा दी जाने वाली वस्तु भी यदि अनेषणीय एवं अप्रासुक है तो जैन श्रमण उसे भी ग्रहण नहीं करते । चाहे दन्त शोधन हेतु छोटा-सा तिनका ही क्यों न हो, वह भी लेना होगा तो उसके स्वामी की अनुमतिपूर्वक, प्रासुक होने पर, ऐषणा करके ग्रहण कर सकते हैं । गवेषणा की शुद्धि हेतु मुख्यतया 42 एवं विस्तार से 106 दोषों का वर्णन शास्त्रकार करते हैं । उक्त दोषों से युक्त वस्तु दाता की भावना एवं निर्ग्रन्थ को आवश्यकता होने पर भी ग्रहण नहीं करते ।

(4) ब्रह्मचर्य महाव्रत-

ब्रह्म का अर्थ आत्मा भी होता है और चर्य का अर्थ चरना-विचरना । अर्थात् जिस महाव्रत के माध्यम से आत्मा में रमण हो उसे ब्रह्मचर्य महाव्रत कहा जाता है । आत्मा की जो ऊर्जा शक्ति है, वह अब्रह्म के माध्यम से ह्रास हो जाती है । इसलिए अब्रह्म-मैथुन का सर्वथा प्रकार से त्याग करके मुनि पूर्णतः ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं ।

ब्रह्मचर्य का पालन करना बड़ा दुष्कर है, इसलिए सूत्र कृतांग में कहा है- 'तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं' अर्थात् तपों में उत्तम (श्रेष्ठ) तप ब्रह्मचर्य है । तीर्थङ्कर भगवन्तों ने भी इसकी परिपालना हेतु कठोर नियमों के पालन का निर्देश दिया है ।

उत्तराध्ययन सूत्र के सोलहवें अध्ययन में ब्रह्मचर्य की सुरक्षा हेतु नव वाडों का विधान किया गया है । उसका सार इस प्रकार है-
1. स्त्री, पशु एवं नपुंसक रहित स्थान- जहाँ स्त्री, पशु एवं नपुंसक जाति का निवास हो अथवा सूर्यास्त से सूर्योदय के पूर्व तक आवागमन हो, ऐसे स्थान पर ब्रह्मचारी को नहीं रहना चाहिये, क्योंकि ब्रह्मचारी पुरुष स्वयं में कितना ही जागरूक क्यों न हो पर कभी न कभी कामदेव के चक्कर में आ सकता है, इसलिए पहले से ही उसे उक्त प्रकार के स्थान का विवर्जन करना चाहिये । कहा भी है-

जहा बिरालावसहस्स मूले न मूसगाणं वसही पसत्था ।
एमेव इत्थी निलयस्स मज्झे, नबम्भयरिस्स खमा निवासो॥

अर्थात् जिस वृक्ष के मूल में बिलाव (बिल्ली) का निवास हो उस स्थान पर चूहे का रहना खतरे से खाली नहीं है उसी प्रकार जहाँ स्त्री आदि का निवास हो वहाँ ब्रह्मचारी पुरुष का रहना प्रशस्त नहीं है ।

(2) स्त्री सम्बन्धी चर्चा-वार्ता नहीं करना- स्त्री के अंगोपांग एवं हावभाव की चर्चा एवं वार्ता नहीं करनी चाहिये। जैसे- नीम्बू, इमली आदि के नाम का स्मरण करते ही खट्टे रस का ज्ञान हो जाता है एवं मुँह में पानी भर आता है वैसे ही मोह जनित संस्कारों का अनादिकाल से आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से तत्सम्बन्धी वार्ता श्रवण करने से साधक संकल्प विकल्पों में उलझ सकता है । इसलिए स्त्री सम्बन्धी चर्चा वार्ता ब्रह्मचारी साधक को नहीं करनी चाहिये ।

(3) स्त्री के बैठे हुए स्थान का तत्काल उपयोग नहीं करना- जिस प्रकार जमा हुआ घी अग्नि के संसर्ग से तरल-द्रवित हो जाता है उसी प्रकार स्त्री के बैठे हुए स्थान या आसन पर यदि साधक तत्काल बैठता है तो सुसुप्त कामाग्नि क्वचित् उदीप्त हो सकती है ।

(4) स्त्री के अंगोपांग का निरीक्षण नहीं करना- स्त्री के अंग अथवा उपांग अथवा हावभाव का निरन्तर निरीक्षण करने से ब्रह्मचारी पुरुष अपनी आत्मशक्ति रूप तेज को गँवा बैठता है । जैसे कि छोटा बच्चा सूर्य की किरणों को देखता हुआ अपनी आँखें गँवा बैठता है । अतः स्त्री के अंगोपांग पर दृष्टिपात नहीं करना चाहिये।

(5) विकारी शब्द वाले स्थान का वर्जन- जिस स्थान पर स्त्री-पुरुष सम्बन्धी विकारोत्पादक शब्द सुनाई पड़ते हों ऐसा स्थान ब्रह्मचारी पुरुष के रहने योग्य नहीं माना जाता क्योंकि मेघ

की गर्जना को श्रवण करके मयूर भी नाच उठता है, उसी प्रकार विकारोत्पादक शब्दों का श्रवण करते-करते ब्रह्मचारी के विचार भी विकार युक्त हो सकते है । अतः उक्त प्रकार के स्थान का वर्जन करना चाहिये ।

(6) <u>पूर्व में भोगे हुए काम भोगों का स्मरण नहीं करना-</u> व्यक्ति जिस प्रकार की भावना करता है उसी तरह उसका जीवन बन जाता है । पूर्व के भोगे हुए काम भोगों का स्मरण करने से तत्सम्बन्धी सामग्री उपस्थित होने पर वर्तमान में भी मन अस्थिर हो सकता है । इसलिए पूर्व के काम भोगों का स्मरण करना भी ब्रह्मचारी के लिए घातक सिद्ध हो सकता है । ज्ञाताधर्म कथांग सम्बन्धित जिनरक्ष एवं जिनपाल दृष्टान्त इसके लिए बहुत उपयोगी है ।

(7) <u>प्रतिदिन सरस आहार का त्याग-</u> ब्रह्मचर्य कीं सुरक्षा के लिए साधक को प्रतिदिन सरस आहार नहीं करना चाहिये, क्योंकि नित्य-प्रति गरिष्ठ भोजन करने से इन्द्रियाँ चंचल हो जाती है, जिससे ब्रह्मचर्य पालन में कठिनाई आना स्वाभाविक है । सन्नीपात के रोगी को जैसे शक्कर मिश्रित दूध अहितकर होता है वैसे ब्रह्मचारी के लिए प्रतिदिन सरस भोजन करना हानिकारक है ।

(8) <u>अधिक भोजन नहीं करना-</u> जितनी क्षुधा है उससे दो-चार कवल कम भोजन करना ब्रह्मचर्य के लिए हितकर माना जाता है । रूक्ष, आँत, प्रांत आहार भी मात्रा से अधिक खा लेने पर हानिकारक होता है । जैसे एक सेर के माप की मिट्टी की हण्डिया में यदि सवा सेर या डेढ़ सेर सामान डाल दिया जाय तो जो स्थिति उस मिट्टी की हण्डिया की होती है प्रायः वैसी ही स्थिति ब्रह्मचारी पुरुष की बनती है। अतः चाहे रूक्ष आहार ही क्यों न हो मात्रा से अधिक नहीं खाना चाहिये ।

(9) <u>शारीरिक शोभा का वर्जन-</u> जैसे गृहस्थ शारीरिक शोभा हेतु स्नान, उबटन, मर्दन आदि करता है, केश-नख को

संवांरता है वैसे ही यदि ब्रह्मचारी पुरुष भी शारीरिक शोभा-विभूषा में आसक्त होता है तो वह अपने ब्रह्मचर्य को सुरक्षित नहीं रख सकता। क्योंकि शारीरिक शोभा-विभूषा की इच्छा करना मानसिक चंचलता का द्योतक है। शोभा-विभूषा करना चंचलता ही है। जो ब्रह्मचारी शारीरिक शोभा-विभूषा में रत रहता है उसकी हालत वैसी ही होती है, जैसी कि लकड़हारे ने कौए को उड़ाने के लिए चिन्तामणि रत्न गँवाया। अर्थात् जैसे दरिद्र व्यक्ति चिन्तामणि रत्न को सुरक्षित नहीं रख सकता, वैसे ही शोभा-विभूषा में रत ब्रह्मचारी भी अपने ब्रह्मचर्य को सुरक्षित नहीं रख सकता।

वीर्य जीवन का अति महत्त्वपूर्ण तत्व है, वही जीवन का ओज है। यदि उसे अब्रह्मचर्य से नष्ट किया जाता है तो ज्ञानीजनों की भाषा में व्यक्ति स्वयं अपने को नष्ट कर रहा है। अतः अब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से परित्याग करना चाहिये। कदाचित् उतनी क्षमता न हो तो स्वदार सन्तोष व्रत के माध्यम से उसे संयमित अवश्य कर लेना चाहिये।

(5) अपरिग्रह महाव्रत-

पाँचवाँ अपरिग्रह महाव्रत है। महाव्रतधारी निर्ग्रन्थ परिग्रह के सर्वथा त्यागी होते हैं। यह महाव्रत भी तीन करण तीन योग से ग्रहण किया जाता है। कभी-कभी संत-मुनिराजों के पास संयमी जीवन के सुरक्षार्थ रखे जाने वाले वस्त्र पात्र आदि को देखकर कोई यह विचार करे कि वस्त्र-पात्र का परिग्रह संतों के पास होते हुए भी वे अपरिग्रही कैसे ? यह विचार आगम ज्ञान के परिज्ञान के अभाव में हो जाना स्वाभाविक है। किन्तु आगम ज्ञान से इस पर चिन्तन किया जावे तो सत्य के द्वार उद्घाटित हो जाते हैं। प्रभु महावीर ने परिग्रह के बारे में कहा है-

'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो'

अर्थात् मूर्छा को परिग्रह कहा गया है। इस आगम सूत्र के अनुसार मर्यादित वस्त्र-पात्र आदि भण्डोपकरण रखता हुआ भी

निर्ग्रन्थ अपरिग्रही होता है क्योंकि व्रह उन वस्त्र-पात्र आदि में आसक्त नहीं होता, अपितु अनासक्त भाव से उनको संयमी जीवन में सहायक मानकर उपयोग करता है ।

संत-मुनिराज अपरिग्रह महाव्रत सुरक्षार्थ निर्देशित भण्डोपकरण के अतिरिक्त टिकट, लिफाफे, पोस्टकार्ड, रुपया पैसा मुद्राएँ आदि भी अपने पास नहीं रखते । दूसरे दिन का भोजन भी संग्रह नहीं क़रते, न ही चन्दा-चिट्ठा आदि के प्रपंच में पड़ते हैं । क्योंकि चंदा-चिट्ठा करवाने से स्वयं चाहे अपने पास रुपये पैसे न भी रखे, पर दूसरों को उससे सहयोग देने से परिग्रह वृत्ति को बढ़ावा मिलता है, उसका अनुमोदन होता है । जिससे अपरिग्रह महाव्रत दूषित हो जाता है । अतः ऐसी प्रवृत्तियों में साधक को सहभागी नहीं बनना चाहिये ।

समिति गुप्ति के पालक अणगार-

उपरोक्त पाँच महाव्रतों के साथ-साथ अणगार धर्म के पालक पाँच समिति एवं तीन गुप्ति का भी पालन करते हैं । समिति गुप्ति भी पाँचों महाव्रतों को पालने में सहायक है ।

सकल चारित्र का पालन करने वाले मुनिराज नववाड़ सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, कनक और कामिनी के त्यागी होते हैं । सकल चारित्र रूप संयम पालन को तलवार की धार पर चलने से भी कठिन बताया है ।

कथनी और करनी की एकरूपता-

आज के युग में उपदेशक बहुत हैं परन्तु चारित्रवान बहुत कम हैं । चारित्रवान व्यक्ति पहले सिद्धान्तों क़ो अपने जीवन में उतारता है और फिर उसका उपदेश करता है । राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी का उदाहरण हमारे सामने है । वे किसी बात को कहने से पूर्व अपने जीवन में उतारने का प्रयास करते थे । जैसा कहते थे वैसा

करने को भी तत्पर रहते थे । लेकिन आजकल अधिकतर लोगों की कथनी और करनी में अन्तर रहता है । एक बार कोई नेताजी मंच से अहिंसा पर भाषण दे रहे थे । भाषण शैली हृदय स्पर्शी एवं प्रभावशाली थी । वक्ता महोदय ने अहिंसा के स्वरूप का बहुत सुन्दर ढंग से विश्लेषण किया । श्रोतागण मन्त्रमुग्ध हो गये ।

इधर वक्ता महोदय को बोलते-बोलते पसीना हो गया। उन्होंने पसीना पोंछने के लिए जेब से रूमाल निकाला तो असावधानी के कारण जेब से एक अण्डा बाहर आ गिरा । अब तो सारा दृश्य ही बदल गया । वक्ता का प्रभाव घृणा में परिवर्तित हो गया । श्रोतागण वक्ता को धिक्कारने लगे कि अहिंसा का ऐसा विश्लेषण करने वाले का आचरण ऐसा घिनौना ? आजकल ऐसे वक्ताओं की कमी नहीं है । तात्पर्य यह है कि प्रभाव भाषण का नहीं आचरण का होता है । बिना आचरण के केवल वक्तृत्व कला का कदाचित् प्रभाव पड़ता भी है तो वह तात्कालिक होता है स्थाई नहीं । महात्मा गाँधी के एक इशारे पर ही हजारों-हजार व्यक्ति दौड़ पड़ते थे । क्या कारण था इसके पीछे ? इसके पीछे था उनका अपना आदर्श एवं चरित्रमय जीवन, कथनी और करनी में एकरूपता ।

'सौ मण कहने की अपेक्षा एक कण करना अधिक अच्छा है ।'

किसी अंग्रेज कवि ने कहा है-

If wealth is lost, nothing is lost. If health is lost, something is lost. If character is lost, every thing is lost.

'यदि धन खोया तो कुछ नहीं खोया, अगर स्वास्थ्य खोया तो कुछ खोया और यदि चारित्र खोया तो सब कुछ खो गया ।'

भारत का इतिहास चारित्रवान व्यक्तियों के जीवन से भरा पड़ा है । मर्यादा पुरुषोत्तम राम अपने चारित्र के कारण ही भगवान

बने, पुरुषोत्तम कहलाये। पंचवटी के कानन में सूर्पणखा राम से विवाह का प्रस्ताव रखती है, उनके न मानने पर लक्ष्मण को आकर्षित करती है परन्तु दोनों अपने चारित्र बल में दृढ़ रहे। इसके विपरीत रावण अपने चारित्र का त्याग कर महासति सीता को उठा ले गया, उनके सामने अपनी दुर्भावना व्यक्त की तो आज संसार रावण के पुतले बनाकर जलाता है, उसके नाम पर थूंकता है। यद्यपि रावण बहुत बड़ा पण्डित था, तथापि 'विनाशकाले विपरीत बुद्धि' के अनुसार उसकी मति पलट गई। किन्तु सीता अपने आपमें दृढ़ रही। सेठ सुदर्शन ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी अपने शीलधर्म की रक्षा की। छत्रपति शिवाजी, वीर दुर्गादास आदि अनेक योद्धा हुए जिन्होंने अपने चारित्र की रक्षा कर विश्व के सामने आदर्श उपस्थित किया है। विजयकुँवर और विजयाकुमारी का उदाहरण तो अद्वितीय है जिन्होंने गृहस्थ अवस्था में रहते हुए भी पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया।

सभी तीर्थङ्कर राज्य, वैभव, भरापूरा परिवार, सुख- सुविधाएँ आदि त्याग कर संयम ग्रहण करते हैं, चारों तीर्थ की स्थापना करते हैं, संसार में धर्म का उद्योत करते हैं और अन्त में समस्त कर्मों का क्षय करके सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो जाते हैं। गजसुकमाल, धन्ना, शालिभद्र, जम्बू आदि अनेक उदाहरण हैं, जिन्होंने भोग को तिलांजलि देकर त्याग मार्ग अपनाया और अपनी आत्मा का कल्याण किया।

किसी कवि ने कहा है-

सम्यग्ज्ञानी, सम्यग्दर्शी, सम्यग्संयमवान,
उसी को मिलता है निर्वाण।
शास्त्र-शास्त्र में, स्थान-स्थान पर बोल गये भगवान,
उसी को मिलता है निर्वाण॥

आत्मशक्ति को जागृत करें-

बन्धुओं! पर्युषण पर्व के इस पावन प्रसंग पर सम्यग्ज्ञान,

सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र की आराधना कर मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर होवें ।

जिनकी आत्माएँ जागृत हो चुकी हैं उन्होंने संयम को अंगीकार कर लिया है और जो संयम को धारण नहीं कर पाये हैं, उन्होंने श्रावक धर्म को अंगीकार कर लिया है । इस पावन प्रसंग पर आप भी कुछ आगे बढ़ें, अधिक नहीं तो देश चारित्र को ग्रहण करें, आगार धर्म को अपनावें । यों तो आप संसार के कठिन से कठिन कार्य करने को तत्पर हो जाते हैं, पर जब त्याग प्रत्याख्यान की बात आती है तो अधिकांश व्यक्ति कतराते हैं, भय खाते हैं ।

एक बार किसी अच्छे धनी परिवार की पुत्री को किसी ऐसे परिवार में ब्याही गई जो सुसंस्कारी तो था पर उस परिवार से कुछ कम वैभवशाली था । बहू के पीहर में सभी प्रकार की सुविधाएँ थी, नौकर, चाकर भी थे । उसे इस बात का अभिमान भी था कि उसका पीहर अधिक वैभवशाली है।

एक दिन सास को उपवास का पारणा करना था । उकाली बनाने के लिए काली मिर्च आदि को खरल में पीसने के विचार से पास में बैठी बहू को रसोई के बाहर से खरल उठा लाने को कहा । बहू को पीहर के वैभव का मद तो था ही, सोचा यदि आज खरल उठा लाऊँगी तो कल और अधिक भारी वस्तु उठानी पड़ेगी । एक बार ना करने पर हमेशा के लिए रास्ता साफ हो जायेगा । बहू ने कहा- 'मातजी ! आप विचार करें, ऐसी भारी खरल मुझ से कैसे उठेगी, मैंने तो अपने पीहर में ऐसी भारी वस्तुएँ कभी उठाई ही नहीं ।

सास सरल एवं शान्त स्वभाव की थी । वह बहू को विना कुछ कहे स्वयं ही खरल उठा लाई और अपना कार्य कर लिया ।

सास और बहू की यह वार्ता, बहू का पति सुन रहा था । वह स्तब्ध रह गया । विचार मग्न हो गया । उसने सोचा कि पत्नी

को सचमुच शिक्षा देनी चाहिये । पति दुकान पर गया परन्तु मन में खेद था, आँखों में पत्नी का अपनी माँ के प्रति किया गया अभद्र व्यवहार चलचित्र की तरह दौड़ रहा था । बार-बार विचार आ रहा था कि पत्नी को कैसे समझाया जावे ? इतने में एक पुराने ढाई सेर के बाट पर दृष्टि पड़ी । एक योजना दिमाग में उभर आई । तत्काल पास की दुकान से एक योग्य सुनार को बुलाया । सुनार को कुछ सोना दिया और लोहे का ढाई सेरी बाट भी । दोनों वस्तुओं से एक सुन्दर सोने का हार बनान को कहा । हार के नीचे सोने की पतली परत में ढाई सेरी की लॉकेट लटकाने को कहा । सुनार भी विचार में पड़ गया कि आज सेठजी को क्या हो गया ? सोने के हार में लोहे की ढाई सेरी की लॉकेट ! सेठ ने कहा- तुम मेरे कथनानुसार हार जल्दी बना कर लाओ ।

अत्यन्त सुन्दर चमचमाता हार बनकर तैयार हो गया। मखमली डिब्बे में हार रखा गया । सेठ रात्रि को सोने के समय कपड़े में हार का डिब्बा लपेटकर, बगल में दबाकर घर ले आया । डिब्बे का कुछ हिस्सा दिखाई दे रहा था । पत्नी की नजर डिब्बे पर पड़ी और पति से पूछ ही लिया कि बगल में क्या दबा रखा है ? पति यद्यपि उसे हार दिखाना चाहता था फिर भी कहा- 'नहीं, नहीं कुछ नहीं है । तुम्हारे काम की चीज नहीं है ।' पत्नी की जिज्ञासा बढ़ी तो उसने प्रेमपूर्वक पति के हाथ से डिब्बा ले लिया । डिब्बा खोलने पर पत्नी ने कहा- 'हार तो बहुत सुन्दर है । ऐसा सुन्दर हार आप कहाँ से लाये ?' पति ने कहा- 'आज दुकान पर बिकने के लिए आ गया था, मैंने इसे खरीद लिया ।

'यह हार तो मैं पहनूँगी ।' पति ने रोका- 'नहीं, नहीं यह हार तुम जैसी सुकुमाल नारियों के काम का नहीं है । यह तो बहुत भारी है, तुम इतना भारी हार कैसे उठा पाओगी ?'

लेकिन पति के ना करते हुए भी पत्नी ने हार को अपने गले में डाल लिया और कहा- 'वाह ! आप भी क्या बात करते हैं । पीहर में इससे भी भारी हार पहने हैं ।'

पति ने मौन स्वीकृति प्रदान की । वह तो यही चाहता था कि पत्नी हार को पहन ले ।

पत्नी को हार इतना पसन्द आया कि रात और दिन उसे पहने रहती । खोलने का नाम नहीं लेती । सभी आस-पड़ोस की महिलाओं को हार दिखाने के लिए किसी न किसी बहाने उनके घर पहुँच जाती । हार की सभी बहुत प्रशंसा करते जिससे बहू फूली न समाती ।

बहू ने दो-चार दिन तक हार को गले से नहीं निकाला। चलते-फिरते, घर का काम करते उस हार के लॉकेट से छाती में चोट लगती, फिर भी हार पर मोह था । मोह की कुछ ऐसी ही दशा है । हिताहित का भी भान नहीं रहता । हम उस महिला को तो मूर्ख कहेंगे लेकिन यदि विचार करें तो क्या आज संसार के अधिकांश व्यक्तियों की दशा वैसी नहीं हो रही है ? हम भी संयम के मार्ग को कठिन समझते हैं, श्रमण धर्म और श्रावक धर्म को तो बहुत दुष्कर कहते हैं, लेकिन संसार के कठिनातम कार्यों में रात-दिन लगे रहते हैं । कितना कष्ट उठाते हैं । फिर भी वे कर्म कठिन नहीं लगते । घर में विवाह-शादी के अवसर पर भोजन और शौचादि से निवृत्ति भी समय पर नहीं होती और यों सन्त-मुनिराज कभी नवकारसी या एक सामायिक की बात करें तो लोग बगलें झाँकने लग जाते हैं । कई बहाने बन जावेंगे, कठिनाइयाँ पैदा हो जावेंगी । यह दृष्टि का अन्तर है, विचार शक्ति का भेद है, सोचने के तरीकों की भिन्नता है ।

सेठ ने विचार किया कि पत्नी हार के मोह में पागल हो रही है । कहीं हार की चोट लगने से इसकी शारीरिक हानि हो गई तो बाद में दिक्कत पड़ेगी । इसलिए एक रात्रि को जब पत्नी गहरी नींद में सो रही थी तब उसने धीरे से ढाई सेरी पर लगी हुई सोने की पतली परत को थोड़ी-सी ऊँची कर दी जिससे अन्दर के लोहे की ढाई सेरी स्पष्ट दिखाई देने लगी ।

प्रातः वह जल्दी ही दुकान पर चला गया। बहु ने उठकर देखा कि हार कुछ खराब हो गया। सोचा बराबर पहनने से हार घिसने लगा है। जब उसकी दृष्टि लॉकेट के भीतरी भाग पर गई तो काला-काला सा पदार्थ दिखाई देने लगा। अधिक गौर से देखने पर ढाई सेरी स्पष्ट दिखाई देने लगी। लोहे की ढाई सेरी देखते ही बहू की त्यौरियाँ चढ़ गई। हार खोल कर कमरे के एक कोने में पटक दिया।

रात्रि को जब सेठ घर आया तो पत्नी का रंग-ढंग देख कर सारी स्थिति को समझ गया। वह तो जान ही रहा था कि आज रंग आएगा। पत्नी का मुँह आवेश से फूल रहा था। पति से बात नहीं की। सेठ ने भी इस तरह पूछा जैसे कुछ जानता ही न हो- 'क्यों! क्या बात हुई ? क्या तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है ? या किसी ने कुछ कह दिया है ?'

'क्या आप नहीं जानते हैं ? आप ऐसा हार मेरे लिए लाए थे ? मुझे क्या ढाई सेरी से छाती कुटवानी थी ?'

'मैंने तो तुमसे पहले ही कह दिया था कि हार बहुत भारी है, तुमसे नहीं उठेगा। तुम सुकुमाल हो। अरे ! मुझे भी आश्चर्य हुआ जो एक छोटी-सी खरल हाथों से नहीं उठा सकती वह हार का भार इतने दिन तक कैसे उठाए रही ?'

पत्नी सारी बात समझ गई। उसने पति से क्षमा मांगी तथा यह संकल्प किया कि अब वह सास के साथ सद्व्यवहार करेगी।

इसी प्रकार बन्धुओं ! त्याग प्रत्याख्यान के विषय में आनाकानी नहीं करते हुए जितनी शक्ति हो उतना-उतना यदि त्याग जीवन में अपनाया गया तो यह जीवन सार्थक हो जायेगा। यह मनुष्य जीवन आत्मोत्थान के लिए प्राप्त हुआ है, भोग के लिए नहीं। अतः शक्ति अनुसार त्याग अवश्य करना चाहिये।

यह तो एक उदाहरण है, लेकिन हम लोगों को इससे शिक्षा

ग्रहण करनी चाहिये । मोह का त्याग कर वीतराग प्रभु के बताए मार्ग को जीवन में स्थान देना चाहिये । बहू ने तो अपनी मिथ्या मान्यता को समझ लिया और उसे त्याग दिया लेकिन हम अभी भी जीवन के महत्व को नहीं समझ पाये हैं, अन्यथा श्रावक धर्म अथवा श्रमण धर्म को अंगीकार कर जीवन ज्योति को जागृत करने का प्रयास करते । चरित्र के पालन में जो बाह्य कष्ट उत्पन्न होता है वह वास्तविक कष्ट नहीं है, वह तो सुखदाई है तथा संसार का सुख वास्तविक सुख न होकर केवल सुखाभास है । श्रीमद् रायचन्द्रजी ने ठीक ही कहा है-

अनन्त दुःख, नाम सुख, अनन्त सुख नाम दुःख,
उघाड़ न्याय नैत्र ने, निहाल रे निहाल तूँ ।

संसार में अनन्त दुःख और नाम मात्र का सुखाभास है । संयम में नाम मात्र का कष्ट है एवं अनन्त सुख है । इस तत्व को समझने की आवश्यकता है । शास्त्रों में कहा है कि

'संयम ही जीवन है, असंयम ही मरण है ।'

आज के इस पावन प्रसंग पर अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार असंयम का त्याग करें एवं जीवन में संयम को स्थान देवें । संयम का पालन सुखकारी है । किसी कवि ने भी कहा है-

संयम सुखकारी, जिन आज्ञा अनुसार, धन्य पाले जे नरनार ।
संयम सुखकारी आनन्दकारी, धन्य जाऊँ मैं बलिहार ॥

कर्म रज ने शीघ्र हटावे, आतम ना गुण सब प्रगटावे ।
जन्म मरण ना दुःख मिटावे, होवे परम कल्याण ॥ संयम.

परम औषधी संयम जाणो, तीन लोक नो सार पिछाणो ।
शुद्ध समझ हृदय में आणो, अनुपम सुख की खान ॥ संयम.

स्तवन की कुछ कड़ियों का उच्चारण किया गया है । हम इसके भावों को ग्रहण करें । वास्तव में संयम आनन्दकारी है ।

प्रातः वह जल्दी ही दुकान पर चला गया । बहु ने उठकर देखा कि हार कुछ खराब हो गया । सोचा बराबर पहनने से हार घिसने लगा है । जब उसकी दृष्टि लॉकेट के भीतरी भाग पर गई तो काला-काला सा पदार्थ दिखाई देने लगा । अधिक गौर से देखने पर ढाई सेरी स्पष्ट दिखाई देने लगी । लोहे की ढाई सेरी देखते ही बहू की त्यौरियाँ चढ़ गई । हार खोल कर कमरे के एक कोने में पटक दिया ।

रात्रि को जब सेठ घर आया तो पत्नी का रंग-ढंग देख कर सारी स्थिति को समझ गया । वह तो जान ही रहा था कि आज रंग आएगा । पत्नी का मुँह आवेश से फूल रहा था । पति से बात नहीं की । सेठ ने भी इस तरह पूछा जैसे कुछ जानता ही न हो- 'क्यों! क्या बात हुई ? क्या तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है ? या किसी ने कुछ कह दिया है ?'

'क्या आप नहीं जानते हैं ? आप ऐसा हार मेरे लिए लाए थे ? मुझे क्या ढाई सेरी से छाती कुटवानी थी ?'

'मैंने तो तुमसे पहले ही कह दिया था कि हार बहुत भारी है, तुमसे नहीं उठेगा । तुम सुकुमाल हो । अरे ! मुझे भी आश्चर्य हुआ जो एक छोटी-सी खरल हाथों से नहीं उठा सकती वह हार का भार इतने दिन तक कैसे उठाए रही ?'

पत्नी सारी बात समझ गई । उसने पति से क्षमा मांगी तथा यह संकल्प किया कि अब वह सास के साथ सद्व्यवहार करेगी ।

इसी प्रकार बन्धुओं ! त्याग प्रत्याख्यान के विषय में आनाकानी नहीं करते हुए जितनी शक्ति हो उतना-उतना यदि त्याग जीवन में अपनाया गया तो यह जीवन सार्थक हो जायेगा । यह मनुष्य जीवन आत्मोत्थान के लिए प्राप्त हुआ है, भोग के लिए नहीं । अतः शक्ति अनुसार त्याग अवश्य करना चाहिये ।

यह तो एक उदाहरण है, लेकिन हम लोगों को इससे शिक्षा

ग्रहण करनी चाहिये । मोह का त्याग कर वीतराग प्रभु के बताए मार्ग को जीवन में स्थान देना चाहिये । बहू ने तो अपनी मिथ्या मान्यता को समझ लिया और उसे त्याग दिया लेकिन हम अभी भी जीवन के महत्व को नहीं समझ पाये हैं, अन्यथा श्रावक धर्म अथवा श्रमण धर्म को अंगीकार कर जीवन ज्योति को जागृत करने का प्रयास करते । चरित्र के पालन में जो बाह्य कष्ट उत्पन्न होता है वह वास्तविक कष्ट नहीं है, वह तो सुखदाई है तथा संसार का सुख वास्तविक सुख न होकर केवल सुखाभास है । श्रीमद् रायचन्द्रजी ने ठीक ही कहा है-

अनन्त दुःख, नाम सुख, अनन्त सुख नाम दुःख,
उघाड़ न्याय नैत्र ने, निहाल रे निहाल तूँ ।

संसार में अनन्त दुःख और नाम मात्र का सुखाभास है । संयम में नाम मात्र का कष्ट है एवं अनन्त सुख है । इस तत्व को समझने की आवश्यकता है । शास्त्रों में कहा है कि

'संयम ही जीवन है, असंयम ही मरण है ।'

आज के इस पावन प्रसंग पर अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार असंयम का त्याग करें एवं जीवन में संयम को स्थान देवें । संयम का पालन सुखकारी है । किसी कवि ने भी कहा है-

संयम सुखकारी, जिन आज्ञा अनुसार, धन्य पाले जे नरनार ।
संयम सुखकारी आनन्दकारी, धन्य जाऊँ मैं बलिहार ॥

कर्म रज ने शीघ्र हटावे, आतम ना गुण सब प्रगटावे ।
जन्म मरण ना दुःख मिटावे, होवे परम कल्याण ॥ संयम.

परम औषधी संयम जाणो, तीन लोक नो सार पिछाणो ।
शुद्ध समझ हृदय में आणो, अनुपम सुख की खान ॥ संयम.

स्तवन की कुछ कड़ियों का उच्चारण किया गया है । हम इसके भावों को ग्रहण करें । वास्तव में संयम आनन्दकारी है ।

जिसने इसे ग्रहण किया है वही इसके आनन्द का अनुभव कर सकता है ।

प्रार्थना की कड़ियों में भी कवि ने यही कहा है कि प्रभु सुविधि जिनेश्वर ने राज-पाट का त्याग कर संयम ग्रहण किया और स्वयं के आत्मानुभव से अजर-अमर पद प्राप्त किया है ।

पर्युषण का पावन पर्व भी यही सन्देश दे रहा है कि हे आत्मा ! यदि तुमने अपनी दृष्टि बदल दी, संसार से मुँह मोड़कर मोक्ष की ओर कर दिया तो मुक्ति कोई दूर नहीं है, निर्वाण असम्भव नहीं है । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना कर अनन्त जीव मोक्ष में गये हैं । अतः हम भी अपनी आत्मा को जागृत करें ।

तत्वार्थ श्रदानं सम्यग्दर्शनम् । (तत्त्वार्थ सूत्र 1/2)

भावार्थ- पदार्थों पर यथार्थ रूप से श्रद्धा करना सम्यग्-दर्शन है ।

परस्परोपग्रहो जीवानाम् । (तत्त्वार्थ सूत्र 5/21)

भावार्थ- परस्पर के कार्य में निमित्त होना - यह जीवों का उपकार है । { जीवों का परस्पर उपग्रह (सहायता करना) उपकार है । }

काय वाङ्मनः कर्म योगः । स आस्रवः ।

(तत्त्वार्थ सूत्र 6/1-2)

भावार्थ- काया, वचन और मन की क्रिया योग है जो कर्म का सम्बन्ध कराने वाला होने से आश्रव है ।

तपसा निर्जरा च । (तत्त्वार्थ सूत्र 9/3)

भावार्थ- तप से संवर और निर्जरा होती है ।

तप : एक ज्योति

तप ज्योति है और आत्मा इस ज्योति का स्थान है । तप में महान शक्ति है । तप आत्म शक्ति को जागृत करने का एक उत्तम साधन है । जिस प्रकार अग्नि में तप कर स्वर्ण अधिक उज्ज्वल बनता है, शुद्ध और निख्वालिश हो जाता है, उसी प्रकार तप के द्वारा आत्मा अधिक शुद्ध, शक्ति सम्पन्न एवं ज्योतिर्मय बनता है । पूर्व संचित कर्म तप से क्षय हो जाते हैं । अतः मोक्ष मार्ग में ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के साथ तप को चतुर्थ साधन के रूप में स्वीकार किया गया है ।

श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो, वन्दत पाप पुलाय ।
अष्ट कर्म नो राजवी हो, मोह प्रथम क्षय कीन ।
सुध सककित चारित्र नो हो, परम क्षायक गुणलीन ॥

प्रभु सुविधिनाथ की प्रार्थना की कड़ियों का उच्चारण किया गया । प्रार्थना जीवन का महत्वपूर्ण अंग है । कवि कहता है- 'वन्दत पाप पुलाय' अर्थात् वन्दना करने से पाप पुञ्ज नष्ट हो जाते हैं । यह सत्य है कि प्रभु का वन्दन, नाम एवं स्मरण पापों को नष्ट करने वाला है, लेकिन केवल हाथ जोड़ दिये, मस्तक झुका दिया या नाम स्मरण कर लिया उससे पाप नष्ट नहीं होने वाले हैं । पापों को नष्ट करने के लिए प्रभु स्मरण अन्तर से होना चाहिये । सुविधिनाथ द्वारा बताई हुई सु-विधि जीवन में उतारनी चाहिये, मन की एकाग्रता तथा समर्पण भाव पूर्वक अन्तरचेतना से वन्दन होना चाहिए । महाराजा श्रेणिक का उदाहरण हमारे सामने है । उन्होंने भगवान महावीर को एवं अन्य सन्तों को वन्दन कर छः नारकी के बन्धन काट दिये ।

भगवान की प्रार्थना के लिए शुद्धि का धरातल चाहिये। जब अन्तःकरण में शुद्धि का प्रवेश होता है, तब आत्मा शुद्ध साधना को अपनाने का प्रयास करती है । जब शुद्ध साधना की अभिलाषा होती है तो आत्मा सर्वप्रथम परमात्मा का स्मरण करती है । तीर्थङ्कर देव भी जब दीक्षित होते हैं तब सिद्ध भगवान को 'णमो सिद्धाणं' पद से नमस्कार करते हैं ।

सामान्यतया संसारी जीव परमात्मा के चरणों में प्रार्थना कर अपने स्परूप की उज्ज्वलता में वृद्धि करते हैं । प्रार्थना की प्रक्रिया से भावशुद्धि, कर्म शुद्धि तथा ज्ञान-दर्शन और चारित्र की अभिवृद्धि होती है ।

सम्यग् तप-

आज पर्वाधिराज पर्युषण का पाँचवा दिवस है । सम्यग्

चारित्र की आराधना के साथ सम्यग्तप का विशेष महत्त्व है, इसलिए उसके स्वरूप को भी समझना आवश्यक है । यों तो एक अपेक्षा से चारित्र में तप का समावेश हो जाता है, फिर भी तप अपने आप में महत्त्वपूर्ण तत्त्व है । मोक्ष मार्ग के साधनों में चौथा साधन सम्यग्तप है । तीन का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है । प्रकारान्तर से दान, शील, तप और भाव को भी मोक्ष के साधन कहे हैं । कुछ भी हो तप का विशेष महत्त्व है ।

तप का अर्थ-

तप का संक्षिप्त शाब्दिक अर्थ है- 'तप्यन्ते कर्माणि अनेन इति तपः' अर्थात् जिसके द्वारा कर्मों को तपाया जावे, वह तप है । तपस्या के द्वारा पूर्व अर्जित कर्मों को नष्ट किया जाता है ।

उत्तराध्ययन सूत्र के 28वें अध्ययन में कहा है-

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्धहे ।
चारित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥

अर्थात् ज्ञान से पदार्थ का स्वरूप जाना जाता है, दर्शन से श्रद्धा होती है, चारित्र से कर्मों को रोका जाता है और तप से कर्मों को क्षय किया जाता है ।

तात्पर्य यह है कि जो कर्मों को नष्ट करने में सहायक हो वही तप है । कहा है-

'इच्छा निरोहो तवो'

अर्थात् इच्छाओं का निरोध करना तप है । इन्द्रियों के अनुकूल विषयों तथा तृष्णा-आशक्ति आदि का निरोध करना तप है ।

तप का महत्त्व-

तप का महत्त्व बताने के लिए उत्तराध्ययन सूत्र के 29वें

अध्ययन में कहा है-

तवेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
तवेणं वोदाणं जणयई ॥

अर्थात् हे भगवन् ! तप से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ?

भगवान् ने कहा- 'तप से संचित कर्म नष्ट होते हैं ।'

तप का जीवन में बहुत महत्व है । सभी दर्शनों में प्रकारान्तर से किसी न किसी रूप में तप के महत्व को स्वीकार किया गया है । महाभारत में मन, वचन और काया के तप का प्रतिपादन किया है । इस्लाम धर्म में भी रमजान के महीने में रोजे रखे जाते हैं । जो उनके अपने तरीके का एक तप है । स्वयं मोहम्मद साहब ने कहा है- भूखे रहे बिना भूखे व्यक्ति की पीड़ कैसे जानी जा सकती है ? वैदिक मत में भी कई प्रकार के तप किये जाते हैं जैसे- एकादशी का व्रत, नवरात्रि तपस्या ।

जैनधर्म में तो तपस्या का विशेष महत्व है । अन्य धर्मों की तपस्या काया-क्लेश तक ही सीमित है जबकि जैनधर्म में विषद् विवेचन है । अन्तगड़ सूत्र का वाचन इन दिनों चल रहा है । जिसमें कई प्रकार के तपों का वर्णन किया गया है ।

तप का महत्व बताते हुए आचार्य स्वयंभव ने दशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा में ही कहा है-

'धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।'

इसमें तप को उत्कृष्ट धर्म का एक आवश्यक अंग बताया है ।

इसी सूत्र में आगे कहा गया है-

'तवसा धुणइं पुराण पावगं, जुत्तो सया तव समाहियं।'

अर्थात् हे मोक्षाभिलाषी मुनि ! तू सदा तप समाधि में संलग्न रह, तप पुराने पापों को नष्ट कर देता है ।

संवर के द्वारा नवीन कार्यों को रोका जाता है । लेकिन पूर्व संचित कर्मों को क्षय करने के लिए तो एकमात्र तप ही अमोघ शस्त्र है । मनु स्मृति में भी कहा है- 'तपस्या कल्मषं हन्ति' अर्थात् तप से मलीनता नष्ट होती है । किसी कवि ने कहा है-

तप बड़ो रे संसार में, जीवा उज्ज्वल थाये रे ।
कर्म रूप ईंधन जले, शिवरमणी सिधाये रे ॥

वास्तव में कर्मों को नष्ट करने में तप बहुत महान है। जिस प्रकार अशुद्ध सोना अग्नि में तपकर शुद्ध निखालिश कंचन बन जाता है, उसी प्रकार तप रूप अग्नि के द्वारा आत्मा में रहे हुए कर्म मल नष्ट हो जाते हैं और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकती है ।

तप आत्मशक्ति का विकास-

तप में असीम शक्ति है । इसके द्वारा आत्मा की शक्ति जागृत हो जाती है । उत्तराध्ययन सूत्र में तप को ज्योति कहा है-

'तवो जोई, जीवो जोई ठाणं'

तप ज्योति है और आत्मा उस ज्योति का स्थान है ।

तप के द्वारा शरीर भले ही कृश लगे, कमजोर अनुभव हो लेकिन तपस्वी की आत्मा बहुत ही शक्तिशाली होती है ।

अन्तगढ़ सूत्र में काली, महाकाली आदि महारानियों का वर्णन हम प्रतिवर्ष सुनते हैं । उनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया था, परन्तु अन्तः चेतना दृढ़ थी उससे आत्म शक्ति का विकास हुआ । तप से शाश्वत सुख का मार्ग प्रशस्त होता है । उत्तराध्ययन

सूत्र के अध्याय 3 में कहा है-

भव कोड़ी संचियं कम्मं, तवसा निज्जरज्जई ।

अर्थात् करोड़ों भवों के संचित पाप कर्म तपस्या द्वारा क्षीण हो जाते हैं ।

वाल्मीकी रामायण में कहा है-

'तपो ही परम श्रेयः'

अर्थात् तप ही परम श्रेष्ठ है, कल्याणकारक है ।

भगवान महावीर ने पूर्व जन्म में नन्दन भूपति के भव में कठोर तप की साधना की - ग्यारह लाख साठ हजार मासखमण की तपस्याएँ की । भगवान् महावीर के भव में भी उन्होंने साढे बारह वर्ष तक कठोर तप किया, फलस्वरूप सिद्ध, बुद्ध मुक्त बने । बाहुबली में जो अद्वितीय शक्ति थी, जिसके बल पर उन्होंने भरत जैसे चक्रवर्ती को युद्ध में परास्त किया, इस शक्ति का क्या रहस्य था ? पूर्व भव में की गई कठोर तपस्या के फलस्वरूप ही उन्हें ऐसी विशिष्ट शक्ति मिली ।

भगवान महावीर के चौदह हजार शिष्यों में धन्ना अणगार को जो विशिष्ट स्थान था वह तप और त्याग के कारण ही था। भगवान् ने उनकी प्रशंसा की । कवि कहता है-

धन्ना मुनि धन मानव भव पायो, श्रीमुख यूँ फरमायो ।
श्रेणिक पूछे, वीरजी भाखे, उत्तम मुनिवर सारा ॥
रजमें तजमें तरतम जोगे, अधिक धन्ना अणगारा ।
निरन्तर तप बेले-बेले पारणे उच्छित आहारो ।
समण वणिमग कोई न वंछे, किम तुम कंठ उतारो ॥
बार इक्कीस जल माही धोई, ते अन्न खाई जल पीयो ।
एसो तप सुनि उर कम्पे, धन-धन थारो जीयो ॥

तीर्थङ्कर पद प्राप्ति के बीस उपाय है, उनमें तपस्या के दो

बोल हैं । सातवें बोल में तपस्वी का गुणगान करें, सेवा भक्ति करें और चौदहवें बोल में तपस्या करने से तीर्थङ्कर नाम कर्म का बन्ध होता है ।

तप का इतना महत्व है कि तप करने वाले का गुणगान करने, भक्ति करने से भी तीर्थङ्कर पद की प्राप्ति हो सकती है ।

तप से संवर और निर्जरा होती है-

तत्वार्थ सूत्र में लिखा है- 'तवसा निर्जरा च' अर्थात् तप से संवर और निर्जरा होती है । साधक संवर के द्वारा बाहर से आने वाले नये कर्मों को रोक देता है और भीतर में रहे हुए कर्मों को तपके द्वारा क्षय करता है । जिस प्रकार किसी तालाब को सुखाने के लिए बाहर से आने वाले गंदे पानी के नालों को बन्द किया जाता है, गंदे पानी को तालाब में आने से रोका जाता है, फिर भीतर रहे हुए पानी को सूर्य की गर्मी से या किसी बाहरी साधन से उलीच कर तालाब खाली किया जाता है । उसी प्रकार आत्मा रूपी तालाब में कर्म रूपी मालिन पानी को नष्ट करने के लिए पहले आश्रव द्वारों से आने वाले कर्मों को संवर रूपी पाल बाँध कर रोका जाता है अर्थात् कर्मों को आत्म प्रदेशों के साथ सम्बन्ध होने से रोका जाता है । जिससे बाहर से कर्मों का आना बन्द हो जाता है, फिर पूर्वबद्ध कर्मों को क्षय करने के लिए तप रूपी अग्नि का प्रयोग किया जाता है, जिससे पूर्व अर्जित कर्म सूख जावें, नष्ट हो जावें । यह निर्जरा है ।

जहा महा तड़ागस्स, सन्निरूद्धे जलागये ।
उस्सिचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥5॥

अर्थात् जिस प्रकार किसी विशाल तालाब में आने-वाले जल मार्गों को रोक दिया जावे और फिर भीतर का गन्दा जल ताप के द्वारा सिंचाई मार्गों द्वारा बाहर निकाल कर तालाब को सुखाया जाता है । उसी प्रकार-

एवं तू संजयस्सावि, पाव कम्म निरासवे ।
भव कोडी संचिय कम्मं, तवसा निज्जरिज्जई ॥6॥

अर्थात् संयमी साधक द्वारा नवीन पाप कर्मों को रोक देने पर करोड़ों भवों के संचित पाप कर्म तप से क्षीण हो जाते हैं ।

कर्मों की निर्जरा तब ही संभव है जब आत्मा तप के सम्यग् स्वरूप को समझकर उसे जीवन में उतारे । यदि सम्यग् स्वरूप को समझे बिना तप किया गया तो वह तप नहीं ताप होगा । तप का सम्बन्ध मात्र शरीर से नहीं है उसका सम्बन्ध आत्मा से है । यदि लोक दिखावे, आडम्बर युक्त प्रसिद्धि प्रशंसा के लिए एवं किसी भौतिक कामना को लेकर तप किया गया तो वह लाभदायक नहीं होगा । उससे अकाम निर्जरा हो सकती है । यहाँ तक कि कुछ लब्धियाँ भी प्राप्त हो सकती है । परन्तु ये सब मोक्ष मार्ग के लिए सहायक नहीं हैं । यही नहीं अज्ञान तप भव भ्रमण का कारण भी है । क्योंकि इससे धर्म के मूल अहिंसा, दया का पालन भी नहीं हो पाता ।

प्रभु पार्श्वनाथ एवं कमठ का उदाहरण हमारे सामने हैं । उनके समय में कमठ तापस द्वारा ग्रीष्मकाल की भीषण गर्मी में चारों ओर लकड़ी जलाकर अग्नि का ताप लिया जा रहा था । परन्तु उसे क्या पता कि उसकी इस आडम्बरयुक्त क्रिया से पंचेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा हो रही है? नाग-नागिन लक्कड़ में जल रहे हैं । ऐसा तप मोक्ष का साधन कैसे हो सकता है ? केवल शरीर को तपा देना तप नहीं है । तप तो ताप से छुटकारा पाने का साधन है । पर-पदार्थों का मोह और विकारों की अग्नि अन्तः चेतना को जलाती है । क्योंकि उनमें फँसे रहने के कारण आत्मा विकृत हो जाती है । उस दिशा में तप परिवर्तन ला देता है, आत्मा में फौलादी शक्ति का संचार कर देता है । तप से जब आत्मा तपती है तो उसका स्वरूप अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर लेता है । इसके विपरीत ताप से आत्मा विकृत हो जाती है, मार्ग विमुख हो जाती है । अज्ञानी का, मिथ्यात्वी का करोड़ों वर्षों का तप सम्यक्त्वी के एक नवकारसी तप के समान भी नहीं है । कहा है-

जं अन्नाणि कम्मं खवेइ, बहुयाहिं वास कोड़ी हिं ।

तं नानी तिहि गुत्तो, खवेइ उसास मिसेणं ॥ (भगवती सूत्र)

अज्ञानी जीव हजारों वर्षों तक तप करके जितने कर्मों को नष्ट नहीं कर पाता उतने कर्मों को ज्ञानी श्वासोश्वास मात्र अल्प समय में नष्ट कर देता है । इसलिए सम्यग्तप का महत्व है ।

तप के भेद-

जैन आगमों में तप के प्रमुख दो भेद किये हैं- 1. बाह्य तप और 2. आभ्यन्तर तप ।

1. बाह्य तप-

जिस तप का सम्बन्ध शरीर से हो, अन्न, जल वस्त्रादि से हो, वह बाह्य तप कहलाता है । लेकिन यदि गहराई से चिन्तन किया जावे तो बाह्य तप केवल शरीर से सम्बन्धित नहीं है । बाह्य तप मन पर भी गहरा प्रभाव डालता है । आभ्यन्तर तप की साधना के लिए मन, वचन एवं काया की शुद्धि अपेक्षित होने से पहले बाह्य तप के माध्यम से योगों को अशुभ से निवृत्त करने का प्रयास किया जाता है । इस दृष्टि से बाह्य तप, आभ्यन्तर तप का पूरक है । यदि यों कहा जाय कि बाह्य तप के अभाव में आभ्यन्तर तप सम्भव नहीं है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । अतः ये बाह्य तप है, यह सोचकर इनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । अपितु आभ्यन्तर तप साधना के अनुरूप बाह्य तप की साधना भी आवश्यक है। बाह्य तप छः प्रकार के है ।

1. <u>अनशन-</u> आहार का त्याग करना अनशन तप है । आहार चार प्रकार का होता है-1. अशन 2. पान 3. खाद्य 4. स्वाद्य । चारों प्रकार के आहार का त्याग अनशन तप है । यह भी दो प्रकार का है- (अ) अल्प समय के लिए त्याग करना इत्वरिक अनशन तप है । (आ) जीवन पर्यन्त- सदैव के लिए आहार का त्याग करना यावज्जीवन अनशन है ।

2. <u>ऊनोदरी-</u> जो व्यक्ति पूर्ण रूप से आहार का त्याग नहीं कर सकते, वे आंशिक रूप से आहार का त्याग कर भी तप

सकते हैं । आवश्यकता से कुछ कम आहार करना ऊनोदरी तप कहलाता है । जैसे कोई व्यक्ति छः रोटी खाता है, उसे छः रोटी की भूख है और जब वह इच्छापूर्वक कुछ त्याग करता है तो यह उसके लिए ऊनोदरी तप होगा । जितने अंश में त्याग अधिक होगा, उतना ही अधिक ऊनोदरी तप होगा । ऊनोदरी तप भी दो प्रकार का होता है- (अ) द्रव्य ऊनोदरी (आ) भाव ऊनोदरी । कषाय को घटाना भाव ऊनोदरी है । आहार, वस्त्र, उपकरण आदि का आंशिक त्याग द्रव्य ऊनोदरी है । भूख से एक ग्रास कम खाना भी ऊनोदरी तप है ।

3. भिक्षाचरी- संयमी साधक जीवन चलाने के लिए भिक्षा द्वारा आहार ग्रहण करते हैं । उनकी भिक्षाचरी तीर्थङ्कर भगवान् के बताये नियमों के अनुसार ही होती है । इसलिए यह भी तप है ।

अणगार के आहार प्राप्ति के नियम बहुत कठोर होते हैं । सरलता के आहार नहीं मिलता है । इसलिए भिक्षाचरी भी तप है ।

4. रस परित्याग- रसना इन्द्रिय पर नियन्त्रण करना, खाते हुए रस लोलुपता का त्याग करना रस परित्याग तप है। रस इन्द्रिय को वश में करना बहुत कठिन है । जो आत्मार्थी रसों का त्याग कर केबल शरीर निर्वाह की दृष्टि से आहार करते हैं, वे धन्य हैं, उनका भोजन करना भी तप है ।

5. काय क्लेश- शरीर को कष्ट देना, सुखमय जीवन का त्याग करना काय-क्लेश तप है । विभिन्न प्रकार के योगासन करना, शीत, ताप आदि सहन करना, विभिन्न प्रकार की आतापनाएँ लेना इस तप के अन्तर्गत आते हैं ।

6. प्रतिसंलीनता- इन्द्रियों को वश में करना, योगों पर नियन्त्रण करना, कषाय पर विजय प्राप्त करना प्रतिसंलीनता तप है ।

2. आभ्यन्तर तप-

जिन तपों का सम्बन्ध अन्तर से हो, उन्हें आभ्यन्तर तप कहते हैं । ये बाह्य तप की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं, अधिक लाभदायक हैं । ये भी छः प्रकार के होते हैं-

1. प्रायश्चित- जीवन में लगे दोषों का पश्चाताप करना, अपनी भूलों को गुरु के समक्ष सरल भाव से प्रकट कर उनके द्वारा प्रदत्त दण्ड स्वीकार करना प्रायश्चित तप है । इससे आत्म-शुद्धि होती है । चारित्रवान मुनिराज अपने जीवन में दोष नहीं लगाना चाहते, फिर भी छदमस्त अवस्था में दोष लगना स्वाभाविक है, अतः दोषों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित लिया जाता है ।

2. विनय- विनय को धर्म का मूल कहा है-

'विणओ धम्मो मूलो'

गुणवानों का सम्मान करना, बहुमान करना विनय तप है ।

3. वैय्यावृत्य- वैय्यावृत्य का अर्थ है सेवा करना । वृद्ध, रूग्ण, तपस्वी आदि साधु, आचार्य की सेवा करना वैय्यावृत्य तप है । यह भी पात्र भेद से दस प्रकार का है

4. स्वाध्याय- यह समास पद है । इसमें 'स्व' एवं 'अध्याय' दो संयुक्त शब्द है । स्व = अपना, अपनी आत्मा का अध्याय = अध्ययन-ज्ञान । तात्पर्य यह है कि अपनी आत्मा का ज्ञान करना । आत्मा शुभ में प्रवृत्त है या अशुभ में इसका अध्ययन करना स्वाध्याय है । स्थूल रूप में सद्-साहित्य का अध्ययन करना स्वाध्याय तप है । इसके पाँच भेद है- 1. वाचना 2. पृच्छना 3. परिवर्तना 4. अनुप्रेक्षा और 5. धर्मकथा

5. ध्यान- परमात्म पद की प्राप्ति करना आत्मा का ध्येय है । उस ध्येय के अनुरूप मन, वचन एवं काया की स्थिरता पूर्वक दृष्टाभाव से ध्याता एवं ध्येय की अनुभूति करना ध्यान है । यह ध्यान का सूक्ष्म स्वरूप है । स्थूल रूप में मन की एकाग्रता के साथ विविक्षित वस्तु अथवा विषय पर मन को केन्द्रित करना भी ध्यान

कहा जाता है ।

6. <u>व्युत्सर्ग-</u> शरीर से भी ममत्व हटा देना व्युत्सर्ग तप है। व्युत्सर्ग का अर्थ है-त्याग । पर-पदार्थों से, यहाँ तक कि शरीर पर से भी ममत्व हटाना ।

इस प्रकार संक्षेप में तप के भेदों का वर्णन किया है । बाँह्य और आभ्यन्तर भेदों का घनिष्ठ सम्बन्ध है । दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। परन्तु बाह्यतप की शोभा आभ्यन्तर तप से है । आभ्यन्तर तप जैन दर्शन की विशेष देन है । अन्य दर्शनों में बाह्य तप को स्वीकार किया है जो काया-क्लेश तक ही सीमित है । लेकिन जैन दर्शन ने तप को मन एवं आत्मा से अधिक सम्बन्धित किया है । महाभारत में तप के तीन भेद किये हैं- 1. मन तप 2. वचन तप 3. काया तप ।

तप से लाभ-

तप से सबसे बड़ा लाभ है-कर्मों की निर्जरा-आत्म शुद्धि । इसके साथ ही सांसारिक कई लाभ तप से होते हैं । सर्वप्रथम तो यह शारीरिक स्वस्थता के लिए परम आवश्यक है । आज अधिकांश रोग आहार की अशुद्धता एवं अति आहार के परिणाम स्वरूप है । प्रतिदिन आहार करते रहने से शरीर में कई प्रकार की विकृतियाँ पैदा हो जाती है । आयुर्वेद में उसे वात, पित्त और कफ के नाम से जाना जाता है तथा प्राकृतिक चिकित्सा में उसे विजातीय द्रव्य के नाम से सम्बोधित किया है । वात, पित्त, कफ की वृद्धि अथवा क्षय की अवस्था में शारीरिक असमाधि हो जाती है, जिससे साधक साधना में पूर्णतया समर्पित नहीं हो सकता । अतः अनशन आदि तप के माध्यम से पहले उस विजातीय तत्वों को दूर किया जाता है। तप से जब विकृति-अस्वस्थता दूर हो जाती है तब आत्मिक साधना समीचीन रीति से गतिशील होती है । इस प्रकार तप शारीरिक स्वस्थता के साथ-साथ आध्यात्मिक साधनों में भी लाभप्रद है । तप अच्छे स्वास्थ्य की कुञ्जी है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने भी तप के महत्व को स्वीकार किया है, जीवन में तप को उतारा है । आज भी

भारत में अन्न समस्या विद्यमान है। भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने तो सोमवार को व्रत रखकर अन्न समस्या को सुलझाने की अपील की थी। यदि आज देश में प्रत्येक नागरिक अनिवार्य रूप से थोड़ा-थोड़ा तप का आचरण करे तो अन्न समस्या का समाधान कठिन नहीं।

तप से आत्मबल में वृद्धि होती है। कई प्रकार की लब्धियाँ प्रकट हो सकती हैं। श्रीकृष्ण महाराज ने तो तेले की तपस्या करके देव को आमन्त्रित किया था। आयम्बिल तप के कारण द्वारिका की रक्षा हुई। सति मैना सुन्दरी ने आयम्बिल तप की साधना कर अपने पति श्रीपाल सहित सात सौ कोढ़ियों की कोढ दूर करने में सफलता प्राप्त की।

तप निर्जरा के लिए हो–

यद्यपि तप से कई प्रकार के भौतिक लाभ होते हैं, परन्तु यह गौण है। मुख्य लाभ तो कर्मों की निर्जरा है। दशवैकालिक सूत्र में इन भौतिक उपलब्धियों की कामना से तप करने का निषेध किया गया है। एकान्त निर्जरा के लिए ही तप करना चाहिये। जिस प्रकार अनाज की खेती करने वाले किसान को अनाज के साथ-साथ पराल (खाकला) तो स्वतः प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार साधक को तप करने से भौतिक उपलब्धियाँ तो पराल की तरह प्राप्त होती ही हैं, लेकिन अनाज की तरह मोक्ष रूपी परमपद की प्राप्ति भी होती है। इसलिए तप निर्जरा की कामना से ही किया जावे। अन्य किसी भी प्रकार के फल की इच्छा करनां तप के गौरव को कम करना है।

तप में महिलाएँ अग्रणी हैं–

वर्तमान समय में महिलाओं में तप की रूचि अधिक पायी जाती है। यद्यपि पुरुष वर्ग में भी तपस्याएँ होती हैं, तथापि महिलाएँ इस क्षेत्र में अग्रणी हैं। सामान्य तपस्याओं के अलावा अठाई,

मासखमण, वर्षीतप एवं अन्य बड़ी तपस्याएँ भी महिलाएँ काफी संख्या में करती हैं । कई महिलाएँ मासखमण से भी अधिक तप करती हैं । हमारे गुणवान साधु एवं विदुषी साध्वीयाँ भी इस क्षेत्र में बहुत आगे हैं । लगभग 2-2 माह की तपस्या करने वाले अनेक सन्त-सतियाँ विद्यमान हैं । वे श्रमण संस्कृति के चमकते सितारे हैं।

तप आडम्बर रहित हो-

यद्यपि तप में वृद्धि हो रही है, लेकिन खेद है कि इसमें विकृति भी बढ़ रही है । आज-कल तप में आडम्बर, प्रदर्शन एवं कुरूढ़ियाँ बढ़ती जा रही है । तपस्या में मधुर गाने-बाजे बजाना, प्रभावनाएँ वितरित करना तथा सुन्दर वस्त्राभूषण का प्रयोग इसकी विकृतियाँ हैं । मुख्यतया बहनों में इस मनोवृत्ति का प्राबल्य है किन्तु यह बात अच्छी नहीं है। तप को प्रदर्शन और आडम्बर से मुक्त रखा जाना चाहिये । तपस्वी बहनों को आडम्बर का त्याग करना चाहिये । बहुमूल्य वस्त्राभूषण की अपेक्षा सादगी अपनाना चाहिये । तप के वास्तविक स्वरूप को समझना चाहिये । कभी-कभी तपस्वी सन्त-सतियों पर भी इस प्रदर्शन एवं आडम्बर का प्रभाव हो जाता है । वे भी इस चक्कर में फँस जाते हैं । कुछ भी हो यह अच्छा नहीं है । तपस्या में आडम्बर नहीं होकर साधना होनी चाहिये ।

कषाय का उपषम करो-

तप का जीवन में बहुत महत्व है । पर्युषण पर्व के पावन दिवस हमें सम्यग्तप के लिए प्रेरित करते हैं । कषायों को उपशान्त करना, इन पर नियन्त्रण रखना तथा इन्द्रियों पर नियन्त्रण करना तप है । वास्तव में कषाय विजय आन्तरिक तप है । कहा है-

क्रोड वर्ष तक तप तपे, एक सहे कोई गाल ।
वामे नफो है गणो, मेटो मन की जाल ॥

समर्थ होते हुए भी गाली सहन करता, निन्दा सहन करना,

क्रोध नहीं करना, अनशन आदि की अपेक्षा महान तप है । कषाय को उपशान्त करना दुष्कर कार्य है । करकण्डु अणगार का उदाहरण आपने सुना होगा । क्षुधा वेदनीय कर्म का ऐसा उदय था कि नवकारसी तप करना भी अत्यन्त कठिन था । संवत्सरी महापर्व का दिवस आ गया । करकण्डू अनगार ने अपने गुरु से गोचरी जाने की आज्ञा मांगी । उनके साथी सन्तों ने निन्दा की परन्तु गुरु बड़े गम्भीर थे। उन्होंने सम्वत्सरी का महत्त्व समझाते हुए मुनि को समझाया भी सही पर मुनि ने क्षुधा वेदनीय को सहने में असमर्थता बतलायी तो 'अहासुहं देवाणुप्पिया' के रूप में अनुमति दे दी। करकण्डु अणगार को गोचरी में शीत तथा रूक्ष खिचड़ी प्राप्त हुई । वे खिचड़ी गुरु को दिखाकर आहार करने बैठे । अन्य सन्तों को करकण्डु अणगार की यह प्रवृत्ति पसन्द नहीं आई । उन्होंने मुँह पर ही उन्हें भला-बुरा कहा । कुछ तपस्वी सन्तों ने [illegible] आदि तक कह दिया । उन्होंने कहा- [illegible] सम्वत्सरी महापर्व है, छोटे-छोटे [illegible] आहार करेगा । पर [illegible] नहीं किया । करकण्डु [illegible] किया । एक तपस्वी सन्त ने कहा- [illegible] मुझे दिखा ।" करकण्डु ने [illegible] सन्त के [illegible] देखा [illegible]

वेदनीय कर्म के उदय से अत्यन्त खेद हुआ । अपने आप पर ग्लानि हुई । बार-बार अपने आपको धिक्कारते हुए खिचड़ी का एक कवल हाथ में लिया । उसे मुँह में रखना चाहते हैं, साथ ही पश्चाताप भी हो रहा है । पश्चाताप की अग्नि में उन्होंने अपने कठोर घाति कर्मों को क्षय करना प्रारम्भ किया । गुणस्थानों में आरोहण करते हुए तेरहवें गुणस्थान में पहुँच गये, सर्वज्ञ बन गये, केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर लिया । करकण्डु अणगार केवली बन गये ।

यह आभ्यन्तर तप का स्वरूप है । अन्य सन्तों ने तप तो किया पर जीवन में तप को उतारा नहीं । तप के स्वरूप को समझा नहीं ।

उपवास की व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है -

'विषय कषाय आहारः, त्यागो यत्र विधियते ।
स उपवासः विज्ञेयः, शेष लंघन विदुः ॥

जब विषय कषाय और आहार इन तीनों का एक साथ त्याग किया जावेगा तब वह उपवास कहलायेगा । अन्यथा वह केवल लंघन की कोटि में आ सकता है, जिसमें आहार मात्र का त्याग है । करकण्डु अणगार ने अनशन भले ही न किया हो पर विषय और कषायों को तिलांजलि दे दी ।

अन्त में यही कहना उपयुक्त होगा कि तपस्या के माध्यम से इस पावन पवित्र अवसर पर अपनी आत्मा से कषाय भावना को हटावें । महापुरुषों का जीवन वृतान्त सुनकर तप की प्रेरणा प्राप्त करें । तप की अद्भुत शक्ति को पहचानें और कर्मों को काटने का प्रयत्न कर, इस दुर्लभ मानव भव को सफल बनावें । देवता भी इस मानव भव के लिए तरसते हैं। उन्हें वैभव, ऋद्धि-समृद्धि तो बहुत प्राप्त है लेकिन त्याग-तप की आराधना उनके लिए अशक्य है । सम्यग्तप की आराधना मुख्यतया मानव भव में ही सम्भव है । इसलिए इस महान अवसर का लाभ उठाएँ । तप के माध्यम से

कर्मों को नष्ट करें । कवि भी प्रार्थना के माध्यम से यही कहना चाहता है कि सुविधि जिनेश्वर की प्रार्थना कर मैं मोक्ष का वरण करूँ ।

दान की महिमा

दान देने से धन घटता नहीं है, वरन बढता है । प्रकृति भी हमें दान की शिक्षा देती है । भूमि में कृषक एक दाना डाल कर अनेक दाने प्राप्त करता है, आम की गुठली बोने से बोने वाले को हजारों-हजार आम मिलते हैं । जिस कुए का पानी उपयोग में लाया जाता है उसमें निर्मल जल भरा रहता है तथा इसके विपरीत जिस कुए में पानी भरा ही रहता है वह कुआ गंदा हो जाता है, पानी दुर्गन्ध युक्त हो जाता है । वृक्ष संसार को फल एवं छाया प्रदान करते हैं, नदी तालाब आदि ज़ल प्रदान करते हैं । अतः मानव को भी उदार होना चाहिये ।

श्री अभिनन्दन, दुःख निकन्दन, वन्दन पूजन योगजी ।
आशा पूरो, चिन्ता चूरो, आपो सुख आरोगजी ॥ श्री...
'संवर' राय 'सिधारथ' राणी, तेहनो आतमजातजी ।
प्राण पियारो साहिब सांचो, तुँ ही मात ने तातजी ॥ श्री...
कइयक सेव करे शंकर की, कइयक भजे मुरारजी ।
गणपति सूर्य उमा कइ सुमरे, हुँ सुमरूँ अविकारजी ॥ श्री.
देव कृपा सूँ पामे लक्ष्मी, सो इण भव को सुखजी ।
तू तूठा इण भव परभव में, कदी न व्यापे दुःखजी ॥ श्री..

श्री अभिनन्दन प्रभु के चरणों में प्रार्थना की कड़ियों के माध्यम से मंगलाचरण का प्रसंग उपस्थित हुआ है । भक्त किस आशा से भगवान की प्रार्थना करता है । भक्त कहता है- प्रभु आप दुःखों का नाश करने वाले हो । जो दुःखों का नाशक होगा वही वन्दन-पूजन करने योग्य हो सकता है । भगवान् अभिनन्दन दुःखों को नष्ट करने वाले है इसलिए उनकी प्रार्थना की गई है ।

विचारणीय यह है कि दुःख क्या है ? जिसके विनाश के लिए भक्त प्रभु से प्रार्थना करता है । प्रमुख दुःख है, जन्म, जरा और मरण । संसार परिभ्रमण ही दारूण दुःख है । यदि जीव का जन्म मरण समाप्त हो जावे, संसार परिभ्रमण नष्ट हो जावे, भव चक्र मिट जावे तो दुःखों का विनाश हो सकता है । जीव जब कर्मों से मुक्त हो जाता है तो शाश्वत, अव्याबाध सुख में स्थित हो जाता है ।

सच्चा सुख-

संसार के बाह्य सुख तो क्षणिक हैं, नश्वर हैं । ये सुख तो पुनः दुःख में परिवर्तित हो जाने वाले हैं । लेकिन मोक्ष का सुख अनन्त है, पूर्ण एवं शाश्वत है । इसलिए भक्त भगवान से प्रार्थना करता है-

'आशा पूरो, चिन्ता चूरो, आपो सुख आरोगजी ।'

हे भगवन् ! मेरी सांसारिक चिन्ताओं को मिटाकर मेरी

आशा पूर्ण करो, मुझे आरोग्य सुख प्रदान करो।

भक्त भगवान से बाह्य सुख धन-वैभव, सम्पत्ति-सत्ता की माँग नहीं करता। वह तो मांगता है आरोग्य सुख अर्थात् जिस सुख में दुःखद्वन्द्व आदि किसी तरह का रोग न हो, मात्र सुख ही सुख हो। ऐसा दुःखद्वन्द रहित शाश्वत सुख वीतराग देवों ने प्राप्त कर लिया है। उनका आदर्श सन्मुख रखकर उनके द्वारा बतलाये गये मार्ग पर चलने से भक्त भी उस शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकता है। भगवान् का आदर्श साधक के सन्मुख बना रहे इस दृष्टिकोण से आदर्श महापुरुषों की प्रार्थना आदि का प्रसंग उपस्थित किया जाता है।

याचना करते समय, माँगते समय इस बात के विवेक की भी आवश्यकता है कि किससे क्या वस्तु मांगी जावे ? यदि कोई जोहरी की दुकान पर जाकर सब्जी की मांग करे या चने आदि की मांग करे तो यह उसकी अज्ञानता होगी। जोहरी की दुकान पर तो रत्न ही मिल सकते हैं। यदि रत्नों की आवश्यकता है और सब्जी विक्रेता से मांग करें तो वह कहाँ से देगा। इसलिए जिन्होंने सिद्धत्व को प्राप्त कर लिया, उन्हीं से सिद्धत्व की मांग करना उचित होगा।

भक्त कवि विनयचन्दजी आगे कहते हैं-

'कइयक सेव करे शंकर की, कइयक भजे मुरारजी।
गणपति सूर्य उमा कई सुमरे, हुँ सुमरूँ अविकारजी ॥

वे कहते हैं कि संसार के कई प्राणी ऐसे विभिन्न देवों की सेवा करते हैं, जो वीतराग नहीं हैं, अविकारी नहीं हैं। लेकिन मैं तो निर्विकार प्रभु की भक्ति करता हूँ। जिसे वीतराग बनना है, वह वीतराग की भक्ति करेगा और जिसे संसार में रहना है वह राग-द्वेष युक्त देवों की भक्ति करेगा। नाव स्वयं तिरती है अतः दूसरों को तिराने में सक्षम है। पत्थर का स्वभाव डूबना है, इसलिए वह अन्य को तिराने में सक्षम नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र के 20वें अध्ययन में

महाराजा श्रेणिक और अनाथी मुनि का संवाद है । महाराजा श्रेणिक से अनाथी मुनि कहते हैं- राजा ! तु स्वयं अनाथ है, फिर दूसरों का नाथ कैसे हो सकता है ।

पर्वराज पर्युषण का यह पावन प्रसंग संसार सागर से पार होने की प्रेरणा देता है । जीवन में ऐसे प्रसंग वार-वार नहीं आते । इस प्रसंग से विचार करना है, चिन्तन करना है कि किस प्रकार दु:खों से मुक्ति मिले । मुक्ति के लिए पुरुषार्थ करने से ही मुक्ति मिल सकती है । संसार के लिए पुरुषार्थ करने पर भौतिक अभिवृद्धि सम्भव है, पर सच्चा सुख मिलना असम्भव है । वर्तमान युग में मानव सामान्यतया यह सोचता है कि जिसके पास धन-सम्पत्ति और वैभव अधिक है, सुख सुविधा के भौतिक साधन अधिक हैं, वह अधिक सुखी है । पर वास्तव में ऐसा नहीं है। प्रथम तो तृष्णा की सीमा न होने से हर मानव अपने से अधिक धनी व्यक्ति की ओर देखता है तथा उसकी ऋद्धि देखकर दु:खी होता है । स्वयं भी वैसा बनना चाहता है । फिर धनी व्यक्तियों को कहाँ सुख है ? यदि हम उनका अन्तर मन टटोलें तो उन्हें दु:खी ही पावेंगे। उन्हें रात-दिन पैसा कमाने की चिन्ता बनी रहती है । रात को ठीक से नींद नहीं आती । कई व्यक्तियों को तो नींद की गोलियाँ खाकर नींद लेनी पड़ती है । टेलीफोन पास में लगा कर सोने से कहीं टेलिफोन ने नींद खोल दी तो पुनः नींद आना कठिन हो जाता है । कई सेठ तो भोजन भी आराम से नहीं कर पाते । अब आप ही विचार करें कि जो व्यक्ति ठीक से खा नहीं सकता, सो नहीं सकता, फिर उसे क्या सुख है ? वह तो धन का संग्राहक है, धन का रक्षक है, उपभोक्ता नहीं । इसीलिए सम्यक् विचार करना चाहिये, सुख के वास्तविक स्वरूप को समझना चाहिये ।

किसी कवि ने कहा है-

गौ धन, गज धन, वाजि धन, और रतन धन खान ।
जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूलि समान ॥

दान दिवस-

पर्युषण पर्व का आज छठा दिवस है । आज दान पर कुछ सुनाने का प्रसंग है । कल तप के विषय में कुछ विचार रखे गये थे । तप और दान का घनिष्ठ सम्बन्ध है । दोनों में ममत्व घटता है और समत्व की अभिवृद्धि होती है । शरीर एवं भोजन सामग्री पर ममत्व घटने पर तप करने की भावना होती है तो भौतिक पदार्थों पर ममत्व घटने पर दान देने की इच्छा होती है । तप की शोभा दान से है ।

दान का अर्थ-

दान का अर्थ है- देना । 'दीयत इति दानम्' अर्थात् जो दिया जाता है वह दान है । अधिक स्पष्ट शब्दों में दान की व्याख्या है-

'अनुग्रहार्थ स्वस्याति सर्गो दानम्'

(तत्वार्थ सूत्र- अ. 7, गा. 33)

अर्थात् अपने और दूसरे के अनुग्रह के लिए जो धन का त्याग किया जाता है, उसे दान कहते हैं ।

दान का महत्व-

मोक्ष मार्ग में दान का विशेष महत्व है ।

'दाणं, सीलं च तवो भावो एवं चउव्विहो धम्मो'

अर्थात् दान, तप, शील और भाव यह चार प्रकार का धर्म है ।

इनमें दान को प्रथम स्थान पर लिया गया है । गृहस्थ के लिए दान की प्रधानता है तथा साधुओं के लिए तप एवं संयम की प्रधानता है । दान देना गृहस्थ धर्म का परम कर्तव्य है । महाकवि तुलसीदासजी ने भी दान को अत्यन्त आवश्यक बताया है-

तुलसी जग में आय के, कर लीजे दो काम ।
देने को टुकड़ो भलो, लेने को हरिनाम ॥

विश्व के सभी दर्शन एवं धर्मों में दान की महत्ता को स्वीकार किया गया है । आज के इस भौतिक युग में दान का विशेष महत्व है । विश्व में आर्थिक असमानता, असंतोष एवं परिग्रह वृत्ति अधिक बढ़ी हुई है । अतः इस पर काबू पाने के लिए धन के समान वितरण की आवश्यकता है, धन के संग्रह की नहीं । समान वितरण से सुख शान्ति का अनुभव होता है । दान अपरिग्रह का सुन्दर रूप है ।

संसार में व्याप्त लगभग सभी मतों ने करूणा (अहिंसा) को स्वीकार किया है । करूणा से दान की प्रेरणा मिलती है । यदि करूणा होगी तो दान स्वतः होगा । दान के अभाव में दया अपूर्ण है । दान मानवता का स्वभाव है । दान देने में सक्षम होते हुए भी (दुःखी को देखकर) नहीं देना मानवता के विपरीत है । रहीमदासजी कहते हैं-

रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुँ मांगन जाई ।
उनते पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं ॥

दान देने से दोहरा लाभ है- जिसे दिया जाता है उसका संकट दूर होता है तथा दान-दाता को आत्मशान्ति प्राप्त होती है, पुण्य का बन्ध होता है, मानवता की अभिवृद्धि होकर देवत्व की भावना प्रबल होती है । वेद मन्त्र में कहा है-

'शत हस्तं समाहर, सहस्त्र हस्तं सकिर'

अर्थात् सो हाथों से एकत्रित करो और हजार हाथों से बाँट दो ।

दान से खोया नहीं पाया जाता है-

दान देने से धन घटता नहीं वरन् बढ़ता है । संसार में जड़ कहलाने वाले पदार्थों से भी दान की शिक्षा मिलती है । आम की गुठली बोने पर व्यक्ति को हजारों हजार आम मिलते हैं, भूमि में

कृषक एक दाना डालकर अनेक दानें प्राप्त करता है। इसी प्रकार शुभ भाव से दान देनें पर पुण्य की अभिवृद्धि होती है । इसके विपरीत यदि केवल संग्रह वृत्ति में आसक्त होता हुआ, कर्म मल से आवृत्त हो जाता है । जैसे निरन्तर बाहर निकलता हुआ कुए का पानी स्वच्छ एवं निर्मल रहता है तथा निरन्तर उपयोग में न लिया जाने वाला कुए का पानी गन्दा एवं दुर्गन्ध युक्त हो जाता है । यही नहीं, जिस नदी, कुए, तालाब आदि का पानी सिंचाई आदि में काम आता रहता है उनमें पुनः जल्दी पानी भर भी जाता है तथा पानी स्वच्छ-निर्मल रहता है, लेकिन समुद्र का पानी निरन्तर भरे रहने से खारा हो जाता है । बादल संसार को पानी देते हैं तो उच्च आकाश में निवास करते हैं और समुद्र संग्रहित करता रहता है तो उसे नीचे रहना पड़ता है । इसीलिए देने वाला महान होता है । दान से सम्पत्ति घटती नहीं अपितु बढ़ती है । कवि ने भी कहा है-

चिड़ी चोंच भर ले गई, नदी न घटिये नीर ।
देता दौलत ना घटे, कह गये दास कबीर ॥

दान कभी व्यर्थ नहीं जाता । देना, खोना नहीं, पाना है ।

किसी कवि ने कहा है-

दीन को दीजिये होत दयावन्त, मित्र को दीजिये प्रीत बढ़ावे ।
सेवक को दीजिये काम करे बहु, शायर को दीजिये आदर पावे ।
शत्रु को दीजिये वैर रहे नहीं, याचक को दीजिये कीरति गावे ।
साधु को दीजिये मुक्ति मिले पिण, हाथ को दीधो एलो नहीं जावे।

यह दानवीरों की भूमि है-

भारत की पवित्र वसुन्धरा पर सदैव उदार मनीषियों का अवतरण होता रहा है । यहाँ पर उत्पन्न दानियों के नाम गिनाना यद्यपि सम्भव नहीं है । तथापि महाराजा मेघरथ, दानवीर कर्ण, राजा भोज, महाराजा हरिश्चन्द्र, भामाशाह, जगडूशाह आदि अनेक दानवीरों के नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने अपने शरीर का ममत्व

हटाकर जीवन की बाजी लगाकर भी दान के महत्व को सर्वोच्च शिखर पर प्रस्थापित कर दिया ।

कहा जाता है, इन्द्र ने दानवीर कर्ण से, ब्राह्मण का रूप बनाकर कुण्डल और कवच की याचना की । कुण्डल एवं कवच का दान करने का अर्थ था मौत को आमन्त्रित करना । फिर भी कर्ण ने अपने जीवन का मोह त्यागकर याचक की याचना पूरी की । महाराजा मेघरथ ने शरणागत कबुतर को अभयदान देन के लिए जीवन की बाजी लगा दी। राजा भोज, सम्राट हर्ष की दानप्रियता इतिहास प्रसिद्ध है ।

मेवाड़ के महाराणा प्रताप जब धन के अभाव में देश छोड़कर जाने को उद्यत हुए तो भामाशाह ने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति महाराणा के चरणों में समर्पित कर दी । इतिहास आज भी उनकी गौरव गाथाएँ गाता है । खेमाशा-देदरानी ने देश में अकाल के समय अपने अन्न के भण्डार खोलकर दान वीरता का परिचय दिया, शाह पद की रंक्षा की तथा हृदय की विशाल करूणा का परिचय दिया । अन्न का दान करके प्राणियों को काल कवलित होने से बचाया । जिस कार्य को बादशाह नहीं कर पाये, उस कार्य को अकेले खेमाशा ने कर दिखाया ।

दान से अनन्तगुणा लाभ-

आप सोचते होंगे कि दान देने से तो धन कम हो जाता है, परन्तु ऐसा सोचना उचित नहीं है । दान देने से पुण्य में वृद्धि होती है तथा पुण्य के प्रभाव से सब प्रकार की ऋद्धि सहज रूप से प्राप्त हो जाती है ।

संगम ग्वाले को आस-पास की पड़ोसिन महिलाओं ने सामग्री देकर खीर उपलब्ध कराई । वह खीर खाना चाहता था कि मासखमण के तपस्वी मुनिराज पारणे के लिए गोचरी पधारे । संगम नै उत्कृष्ट भावना पूर्वक खीर मुनिराज को दे दी । मुनिराज को खीर बहराने

के बाद संगम का आयुष्य पूर्ण हो जाता है और गोभद्र सेठ के घर जन्म लेता है । संगम का जीव सहज ही अतुल धन सम्पत्ति का स्वामी बन गया । खीर का शुद्ध आहार दान में देकर संगम ने शालिभद्र का भव पाया जिसने मगध सम्राट श्रेणिक को भी अपनी सम्पत्ति से विस्मित कर दिया ।

दान कर्तव्य है-

सामाजिक व्यवस्था के अनुसार भी दान आवश्यक तत्व है । समाज में जिन प्रमुख व्यक्तियों के पास सम्पत्ति बढ़ जाती है तो उन्हें समाज के हित में लगाना चाहिये । दान का अपना कर्तव्य समझना चाहिये । जब ऐसा नहीं होता है तो क्रान्ति होने का भय रहता है । इसलिए कवि ने कहा है-

जो जल बाढ़े नाव में, घर में बढ़े दाम ।
दोऊ हाथ ऊलीचिये, यही सयानो काम ॥

धन के बढ़ने पर उसे मुक्त हस्त से दान में लगा देना चाहिये । जिसकी सम्पत्ति दान और भोग में नहीं लगती तो वह नष्ट हो जाती है । कहा भी है-

धन की गतियाँ तीन है, दान, भोग और नाश ।
दान भोग में ना लगे तो, निश्चय होवे विनाश ॥

दान, भोग और नाश में सबसे उत्तम उपयोग दान है। दानी व्यक्ति सदैव अमर रहता है । दान बहुत बड़ा परोपकार है ।

सम्राट हर्षवर्धन के लिए ऐसा कहते हैं कि वे प्रयाग में कुम्भ के मेले पर अपना सर्वस्व दान में देते थे । यहाँ तक कि अपने पहिनने के वस्त्र भी अपनी तपस्विनी बहन राज्यश्री से लेते थे । यह दान का अद्भुत उदाहरण है ।

सत्यवादी महाराजा हरिश्चन्द्र ने भी अपना सम्पूर्ण साम्राज्य दान में दे दिया और स्वयं चंडाल के हाथों बिक गये, अनेक कष्ट

उठाये परन्तु घबराये नहीं ।

राजा भोज की दानप्रियता भी इतिहास प्रसिद्ध है । राजा रन्तिदेव ने भी दान में सम्पूर्ण राज्य दे दिया । देव ने रन्तिदेव के दान की परीक्षा ली । उन्हें लगभग 49 दिन तक आहार नहीं मिला उसके बाद भी जो थोड़ा-सा रूखा आहार मिला तो वह भी देव की माया से बने भिखारियों ने मांगा और रन्तिदेव ने सहर्ष दे दिया । भारतीय इतिहास ऐसे अनेक महापुरुषों के जीवन से भरा पड़ा है । यह यहाँ की सुसंस्कृति का प्रभाव है ।

नवाब रहीम के लिए भी कहा जाता है कि वे भी विशिष्ट प्रकार के दाता थे । मुक्त हस्त से दान देते । याचक को कभी रिक्त नहीं जाने देते थे । देते समय भी नैत्र नीचे रखते थे । कहा जाता है कि उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति दान में समाप्त हो गई । उनके पास कुछ भी नहीं रहा, ऐसी अवस्था में भी एक याचक आ गया और वे उसे कुछ देना चाहते थे, परन्तु क्या दें ? यह समस्या थी । उन्हें याद आया कि उनके खाट में एक चांदी की कील लग रही है । तुरन्त चाँदी की कील निकालकर नीचे नैत्रों से याचक को दे दी । इसी समय उनके मित्र कवि गंग आ गये । उनसे रहा नहीं गया, पूछ ही लिया कि दान दे रहे हो फिर भी नैन नीचे क्यों ?

सीखे कहाँ नवाब जू, देनी ऐसी देन ।
ज्यों-ज्यों कर ऊँचो चढ़े, त्यों-त्यों नीचे नैन ॥

नवाब रहीम ने जवाब दिया-
देने वाला और है, देता है दिन रेन ।
मानव भ्रम मुझपे करे, या ते नीचे नैन ॥

दान देने का कैसा विशिष्ट तरीका था । दान देते हुए भी शर्म से मस्तक झुक रहा था । सोचते थे कि दान देने का मैं तो माध्यम हूँ, देता तो मालिक है लेकिन मैं अपने हाथ से दे रहा हूँ इसलिए लोग समझते हैं कि दान मैंने दिया है । यह सोचकर वे शर्म

से मस्तक झुका देते थे ।

आज की परिस्थितियों का विचार करें तो बात ठीक इसके विपरीत दृष्टिगत होगी । आज लोग अपनी प्रतिष्ठा के लिए दान देते हैं । देना तो कम चाहते हैं और दिखावा अधिक चाहते हैं । प्रदर्शन चाहते हैं । ज्ञानियों ने तो यहाँ तक कहा है कि दान ऐसा गुप्त देना चाहिये कि एक हाथ से दिये गए दान का दूसरे हाथ को भी पता नहीं चले । परन्तु आज के युग में ऐसे दानी अत्यन्त दुष्कर है । अधिकांश व्यक्ति अपने मान-सम्मान, प्रतिष्ठा के लिए दान देते हैं । दानदाताओं की सूची में सबसे ऊपर अपना नाम लिखाना चाहते हैं । समाज में इने-गिने व्यक्ति ऐसे होंगे जो बिना प्रतिष्ठा की भावना से दान के स्वरूप को समझते हैं ।

दान को जीवन का अंग बनाया जावे । जिस प्रकार भोजन आवश्यक है, निहार आवश्यक है, अन्य शारीरिक एवं सांसारिक कार्य आवश्यक है, उसी प्रकार नित्य प्रति दान भी आवश्यक है । सभी को प्रतिदिन नियमित रूप से कुछ न कुछ दान देने का अभ्यास करना चाहिये । भगवान महावीर के श्रावक पूणिया जो प्रतिदिन किसी सहधर्मी को भोजन कराने के बाद पारणा करते थे, भोजन ग्रहण करते थे । अर्थ का संग्रह नहीं करके सदुपयोग करते थे । धन सम्पत्ति साथ में आने वाली नहीं है । मम्मण सेठ ने करोड़ों की सम्पत्ति एकत्रित की, फिर भी तृष्णा शान्त नहीं हुई । अन्त में क्या हुआ ?

मम्मन सेठ धन संचियो छप्पन क्रोड़ ।
नहीं खायो, नहीं खरचियो, मुवो माथो फोड ॥

ऐसे व्यक्ति व्यर्थ में मानव भव खो देते हैं । किसी कवि ने कहा है-

अन्त समय द्रव्य कुछ, काम नहीं आयेगा ।
दोनों हाथ खाली किये, जगत से जायेगा ॥

दान पुण्य बिना आगे, कुछ भी न पायेगा ।
शीश धुन-धुन लोभी, तब पछतायेगा ॥

विश्वविजेता सिकन्दर ने जीवन भर धन संग्रहित किया, परन्तु अन्त समय क्या साथ ले गया ? केवल पश्चाताप !

दान किसके लिए लाभदायक-

दान दोनों के लिए लाभदायक है । दाता को पुण्य बन्ध होता है, सम्यग् दृष्टि भाव युक्त दाता केवल पुण्य बन्ध ही नहीं करता अपितु शुभ भाव से अपने अशुभ कर्मों की निर्जरा भी करता हुआ आत्मशुद्धि करता है । क्योंकि दान दिये जाने वाले पदार्थों के प्रति जो ममत्व भाव होता है उसका भी दान देते समय परित्याग होता है । ममत्व के परित्याग से आशक्ति-तृष्णा कम होती जाती है । इस दृष्टि से दाता को दान ग्रहण करने वाले की अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त होने की सम्भावना रहती है । इसलिए तत्वार्थ सूत्र में कहा गया है- 'अनुग्रहार्थ स्वस्थातिसर्गो दानम्' स्वयं के अनुग्रह के लिए स्वाधीन वस्तु का उत्सर्ग करना दान है । इससे आत्म-शान्ति भी मिलती है और प्राप्त कर्ता को कष्ट मुक्ति होती है । कष्ट मुक्ति के साथ ग्रहणकर्ता आर्त एवं रौद्र ध्यान के परिणामों से भी मुक्त होता है । किसी को आर्त्त एवं रौद्र ध्यान के परिणामों से मुक्त करना सम्यग्दृष्टि का परम कर्तव्य है ।

एक कवि ने कहा है-

जननी जणे तो ऐसो जण के दाता के शूर ।
नहीं तो रहिजे बाँझड़ी, मति गँवाजे नूर ॥

प्रकृति मानव को दान का पाठ पढ़ाती है । वृक्ष स्वयं सर्दी, गर्मी सहन करते है, फिर भी सभी को आश्रय प्रदान करते हैं, छाया प्रदान करते हैं । यही नहीं पत्थर फैंकने वाले को भी फल देते हैं । जीवों को जीवन प्रदायी वायु आक्सीजन भी मिलती है । वृक्ष के जड़, तने, पत्ते, फूल आदि प्रत्येक अंग दूसरों के काम आते हैं । नदियाँ प्यासे की प्यास शान्त करती है । सूर्य सभी को विना

भेदभाव के रोशनी एवं उष्णता प्रदान करता है । चन्द्रमा रात्रि के घोर अन्धकार को नष्ट करता है फिर हमारा क्या कर्तव्य है ? इसका चिन्तन हमें गहराई से करना चाहिये ।

श्रावक के व्रतों में अन्तिम व्रत अतिथि संविभाग है । अतिथि का अर्थ- जिनके आने का समय निश्चित नहीं हो । ऐसे संयमी महापुरुषों को श्रावक 14 प्रकार का दान प्रदान कर सकते हैं । यह श्रावक का 12वां व्रत है । ये 14 वस्तुएँ निम्न है-

1. असण 2. पाण 3. खादिम 4. स्वादिम 5. वस्त्र 6. पात्र 7. कम्बल 8. रजोहरण 9. पीढ 10. फलक 11. सय्या 12. संस्तारक 13. औषध और 14. भेषज ।

श्रावक का द्वार दान के लिए हमेशा खुला रहना चाहिये । करूणा बुद्धि से अन्य असहाय, गरीब, दु:खी व्यक्ति को भी दान देना चाहिये । सभी तीर्थङ्कर दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व एक वर्ष तक दान देते हैं ।

गुरुबुद्धि से दान तो श्रमण निर्ग्रन्थ को दिया जाता है, अनुकम्पा बुद्धि से समस्त जीवों को दान दिया जा सकता है। तुंगिया नगरी के श्रावकों के घरों के द्वार दान देने के लिए सदा खुले रहते थे । श्रावकों के लिए करणीय कार्यों में दान, शील, तप भावना में दान का प्रथम स्थान है । अनुकम्पा बुद्धि से दान का निषेध करना शास्त्रानुकूल नहीं है । अतः प्रतिदिन दान देना विशिष्ट पुण्य बन्ध में सहायक है ।

हम ऐसा न सोचे कि दान केवल गृहस्थ ही देते हैं, संयमी मुनिराज भी दान देते हैं । हमारी तरह द्रव्य का दान नहीं देते । वे संसार के सभी प्राणियों को अभयदान देते हैं, फिर ज्ञान एवं धर्म दान देते हैं । समाज को धर्म का निरन्तर मार्गदर्शन देते हैं । परस्पर एक दूसरे श्रमण को आहार वस्त्र आदि प्रदान करना भी आहार एवं वस्त्र दान आदि की संज्ञा में आता है ।

दान में भाव प्रधान है-

दान में वस्तु का इतना महत्व नहीं है जितना भावों का है । देते समय मन की शुद्धि, वस्तु का दोष रहित होना एवं पात्र की शुद्धता तीनों आवश्यक है । संगम ने मुनिराज को उत्कृष्ट भावों से खीर बहराई, जिसके फलस्वरूप शालिभद्र का भव पाया । राजा शंख ने तपस्वी साधु को दाख का धोवन पानी देकर तीर्थङ्कर गौत्र का बन्ध किया । महासती चन्दनबाला ने गृहस्थ जीवन में भगवान् महावीर को उड़द के बाकुले बहराये और देवों ने स्वर्ण मुद्राओं की वर्षा की । स्पष्ट है कि दान में दाता की शुद्ध भावना महत्वपूर्ण है। बिना शुद्ध भाव से दिया गया दान लाभप्रद नहीं होता । दान देते समय दाता को याचक के प्रति व्यवहार भी अच्छा रखना चाहिये ।

दान के भेद-

स्थानांग सूत्र के दसवें ठाणे में दस प्रकार के दानों का उल्लेख है । 'दसविहे दाणे पण्णत्ते तंजहा'

दान दस प्रकार के होते है, जो निम्न हैं-

1. अनुकम्पा दान 2. संग्रह दान 3. भय दान 4. कारूण्य दान 5. लज्जा दान 6. गर्व दान 7. अधर्म दान 8. धर्म दान 9. काहीह दान (प्रतिफल की आशा से दिया गया दान) 10. कपति दान (बदला चुकाने की भावना से)

उपरोक्त दानों में धर्म दान सर्वोत्तम दान है । दया की भावना से करूणा, बुद्धि से दिया गया दान अनुकम्पा दान है।

धर्म दान-

धर्म दान विभिन्न प्रकार का है । इनमें अभयदान श्रेष्ठ है ।
'दाणाण सेट्ठं अभयप्पपाणं'

भगवान ने कहा है-
सव्वे जीवावि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जिउं ।

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। मरण भय सब भयों से बढ़कर है। अतः अभयदान श्रेष्ठ है।

मृत्यु दण्ड के किसी अपराधी को महाराजा की तीन रानियों ने उत्तम प्रकार से भोजन कराया, स्वर्ण मुद्राएँ दान में दी। चौथी महारानी ने उसे सादा भोजन कराया, दान में कुछ नहीं दिया, लेकिन राजा से निवेदन कर मृत्युदण्ड से मुक्त करा दिया तो अपराधी ने राजा के सामने चौथी महारानी का सर्वाधिक उपकार स्वीकार किया। महाराजा मेघरथ ने कबूतर को अभयदान दिया और तीर्थङ्कर गौत्र का बन्ध किया। बाइसवें तीर्थङ्कर प्रभु अरिष्टनेमी ने विवाह के प्रसंग पर मांसाहारी व्यक्तियों के भोजन हेतु एकत्रित पशु-पक्षियों को मुक्त कर अभयदान दिया। संसार से विरक्त, रत्नत्रय की आराधना करने वाले मुनिराज स्वयं अभयदान देते हैं तथा दूसरों से अभयदान दिलाते हैं।

सुपात्रदान-

दूसरी प्रकार का धर्म दान है - सुपात्र दान। सुपात्रदान भी तीन प्रकार का है-1. उत्कृष्ट 2. मध्यम और 3. जघन्य।

1. उत्कृष्ट दान- जिन भव्य प्राणियों ने संसार से नाता तोड़ लिया, कनक और कामिनी का सर्वथा त्याग कर दिया, समस्त प्राणियों को अभयदान दिया, जो जिनमार्गानुसार पंच महाव्रत, पाँच समिति तीन गुप्ति का शुद्ध पालन करते हैं वे अणगार उत्तम पात्र है। ऐसे महापुरुषों को भाव पूर्वक दान देने से संसार परित किया जा सकता है। कवि कहता है-

देता भावे भावना, लेता करे सन्तोष।
वीर कहेए गोयमा, दोनों जावे मोक्ष॥

2. मध्यम दान- व्रतधारी श्रावक को दिया गया दान मध्यम श्रेणी का सुपात्र दान है। वे आगार धर्म का पालन करते हैं।

इसलिए ऐसे व्रतधारी श्रावक को दिया जाने वाला दान भी लाभदायक है ।

3. जघन्य दान- सम्यग्दृष्टि, साधर्मी को दान देना भी सुपात्रदान है ।

भावदान-

सामान्यतया दान की चर्चा करते समय द्रव्य दान की ही चर्चा की जाती है । परन्तु भाव दान इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है । भावदान में द्रव्य दान भी समाहित है । कई व्यक्ति यह कहते हैं कि हमारे पास क्या है सो हम दान में दें ? उनसे कहना है कि दान में वस्तु का दिया जाना ही आवश्यक नहीं है । दान की शुभ भावना करना, अज्ञानियों को धर्म मार्ग पर लगाना भी महत्वपूर्ण दान है । सेठ सुदर्शन ने अर्जुन माली को दान में क्या दिया ? आप कहेंगे कुछ नहीं । पर मैं कहता हूँ कि उन्होंने अर्जुन को प्रभु महावीर के पावन चरणों में उपस्थित कर धर्म के सम्मुख किया । यह उनका भाव दान है ।

समता प्रचार संघ के सदस्य देश के विभिन्न कोनों में जाकर वहाँ के निवासियों को धर्म का उपदेश सुनाते हैं । समता प्रचार संघ ही क्यों ? अन्य सभी स्वाध्याय संघों के सदस्य पर्व पर्युषण में धर्म का उपदेश देते हैं । भगवान की वाणी श्रवण कराते हैं, वे भी धर्म की दलाली करते हैं, यह भी धर्मदान है । दान के विषय में कवि कहता है-

अरे मुसाफिर जग में जाकर कर जाना कुछ दान ।
दान की महिमा बड़ी महान ॥टेर॥
तीन लोक में होते रहते, दानी के गुणगान । दान की....
दान, शील, तप, भाव बताया, नाम दान का पहले आया ।
जिसने भी जो वैभव पाया, पूर्व दान की है सब माया ।
ऊँची गतियों में जाने का, यही प्रथम सोपान, दान... ॥1॥
नदियाँ सागर को दे देवे, सागर से बादल पा लेवें ।
फिर बादल जग पर बरसावे, वही पुनः नदियाँ में आवे ।

कमी नहीं होने देते हैं, दानी के भगवान्, दान... ॥2॥
क्षण भंगुर यह कच्ची काया, इससे भी चंचल यह माया ।
खाली हाथ यहाँ था आया, पूर्व दान फल से कुछ पाया ।
यहीं रह जावे ये सब वैभव, दो दिन का मेहमान, दान... ॥3॥
अपना पेट सभी भरते हैं, अपने लिए सभी पचते हैं ।
धन से जो पर हित करते हैं, नाम अमर जग में करते हैं ।
जनम-जनम तक हो जाता है, दानी का एहसान, दान... ॥4॥
कर्ण महान कहाया कैसे, नाम दधिचि ने पाया कैसे ।
भामाशाह पुजाया कैसे, नाम चमकते मोती जैसे ।
तन की शोभा शील धर्म है, धन की शोभा दान, दान... ॥5॥

पर्युषण पर्व के प्रसंग से दान के माहत्म्य को आपने श्रवण किया है । यह दान मुख्यतः स्वयं के लिए हितकर है । तत्वार्थ सूत्र के सूत्र की व्याख्या आपके समक्ष पूर्व में रखी की जा चुकी है । अतः दान के माध्यम से स्वयं के ममत्व को कम करके, पर के आर्त्त परिणामों को धर्म ध्यान के रूप में परिवर्तन करने का प्रयास करेंगे तो हम श्रावक धर्म की परिपालना के साथ अपनी आत्मशुद्धि का प्रसंग उपस्थित कर सकेंगे ।

अनुग्रहार्थ स्वस्यतिसर्गो दानम् ।

(तत्वार्थ सूत्र 7/33)

अनुग्रह के लिए दूसरों के हित के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है ।

आस्रव निरोधः संवर ।

(तत्वार्थ सूत्र 9/1)

आस्रव (पाप के मार्ग) का निरोध ही संवर है ।

सामायिक : एक साधना

समभाव की प्रवृत्ति करना सामायिक है । जिस प्रवृत्ति से समता की, समभाव की प्राप्ति हो वह सामायिक है । शुद्ध आत्मा का स्वभाव है-समभाव । अतः आत्मा की स्व-परिणति सामायिक है । सामायिक आत्मा को शुद्ध बनाने की प्रवृत्ति है, मोक्ष का साधन है । शत्रु-मित्र पर, लाभ-हानि में समभाव रखना, विषम से विषम परिस्थिति में भी विचलित न होना सामायिक की साधना है । ऐसी उत्तम प्रवृत्ति को जीवन से जोडा जाय ।

जय जय जय भगवान् ।
अजर अमर अखिलेश निरंजन, जयति सिद्ध भगवान् ॥
अगम अगोचर तूँ अविनाशी, निराकार निर्भय सुखराशि ।
निर्विकल्प निर्लेप निरामय, निष्कलंक निष्काम । जय...
कर्म न काया, मोह न माया, भूख न तिरखा रंक न राया।
एक स्वरूप, अरूप अगुरु लघु, निर्मल ज्योति महान ॥
जय... जय...

प्रार्थना की कुछ कड़ियों का उच्चारण आपके सम्मुख किया गया है । यह सिद्ध परमात्मा की प्रार्थना है । कवि ने अल्प शब्दों में सिद्धों के अनन्त गुणों को कहने का प्रयास किया है । वैसे सिद्धों के गुणों को हमारे शब्दों में कह देना असम्भव है, फिर भी भक्त अपनी शक्ति के अनुसार कुछ गुणों को कहने को प्रयास करता है । सिद्धावस्था आत्मा की सर्वोच्च अवस्था है । जब संसारी आत्मा चार घाति कर्मों को नष्ट करता है तो अरिहंत बन जाता है, सर्वज्ञ बन जाता है फिर भी चार कर्म शेष रह जाते हैं । जब शेष कर्म भी अर्थात् समस्त आठों कर्म क्षय हो जाते है, तो आत्मा मोक्ष (सिद्धावस्था) को प्राप्त कर लेती है ।

कर्म आठ हैं- 1. ज्ञानवरणीय 2. दर्शनावरणीय 3. वेदनीय 4. मोहनीय 5. आयुष्य 6. नाम 7. गौत्र और 8. अन्तराय । इनमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घाति कर्म हैं । जो आत्मा के निज गुणों को विकसित नहीं होने देते हैं । इन सबमें मोहनीय कर्म सबसे प्रबल है । यह सब कर्मों का राजा है। जब आत्मा में आत्म शक्ति का विकास होता है तो गुणस्थानों के आरोहण क्रम का प्रारम्भ करती है और आगे बढ़ते-बढ़ते चारों घाति कर्मों को नष्ट कर तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त कर लेती है । वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरिहंत बन जाती है । देह युक्त आत्मा की यह सर्वश्रेष्ठ अवस्था है । यों चौदहवाँ गुणस्थान भी है लेकिन उसकी स्थिति अत्यन्त अल्प है । जहाँ पर मन, वचन एवं काया के योगों को

अवरूद्ध कर आत्मा अयोगी बन जाती है और तत्काल सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेती है । इसलिए तेरहवें गुणस्थान को सर्वश्रेष्ठ कहा है । 13वें व 14वें गुणस्थान में योगों की प्रवृत्ति का ही अन्तर है । यद्यपि 13वें गुणस्थान में योगों द्वारा केवल सातोवदनीय के अतिरिक्त कर्म बन्ध नहीं होता ।

आठों कर्मों को नष्ट कर आत्मा शाश्वत एवं अव्याबाध सुख को प्राप्त कर लेती है । कवि भी यही कहता है कि सिद्ध प्रभो ! आप अनन्त हैं फिर भी आप सभी का स्वरूप एक है, आपके स्वरूप में किंचित् भी अन्तर नहीं है । आप अरूपी हैं, निरंजन निराकार हैं, निर्भय हैं, अजर हैं, अमर हैं, अविनाशी हैं, अगोचर हैं । ऐसे निर्मल ज्योति स्वरूप सिद्ध परमात्मा की जय हो, सदा विजय हो ।

इसी प्रार्थना में कवि आगे कहता है-

गुरु निर्ग्रन्थों ने समझाया, सच्चाप्रभु का रूप बताया।
तुझमें मुझमें भेद न पाऊँ, ऐसा दो वरदान ॥ जय..

सूर्य भानु है शरण तिहारी, प्रभु करना मेरी रखवाली ।
अब तुम में ही मिल जाऊँ मैं ऐसा हो संधान ॥ जय...

प्रभो ! मैं आपकी शरण में आया हूँ आप मेरी रक्षा करें और मुझे भी ऐसी शक्ति प्रदान करें जिससे मैं आपके स्वरूप को आपकी उस अव्याबाध अवस्था को प्राप्त कर सकूँ, आप और मैं दोनों एक रूप बन जावें । आप जैसे हैं वैसा ही मैं भी बनना चाहता हूँ इसलिए आप मुझे आपके समान बनने की क्षमता प्रदान करें ।

पारस को लोहे के सम्पर्क में लाने से लोहा भी स्वर्ग में परिवर्तित हो जाता है । पारस लोहे को स्वर्ण बना सकता है लेकिन वह पारस नहीं बना सकता । परन्तु प्रभु तो भक्त को भी भगवान बना देता है । यह प्रभु की विशेषता है । प्रभु भक्ति का सारा यही है कि भक्त और भगवान का अन्तर समाप्त हो जावे, भक्त भी प्रभुता को प्राप्त कर लेवें । सच्चा सेठ वही है जो अपने अधिनस्थ मुनीम

को भी अवसर आने पर सेठ बना देता है । इसलिए कवि भी सिद्ध परमात्मा की स्तुति कर स्वयं सिद्ध बनने की भावना व्यक्त करता है । वीतराग मार्ग की यही विशेषता है कि भगवान् से भौतिक सुख-समृद्धि की याचना नहीं की जाती वरन् वीतरागता की मांग की जाती है । सिद्ध भगवान् किसी को कुछ देते नहीं पर उनका आदर्श साधना काल में सम्मुख रखने से साधक को वीतरागता प्राप्ति में सहायक होता है ।

वीतराग के लिए पहले जीवन में समभाव आना आवश्यक है । समभाव (सामायिक) की स्वस्थ भूमिका पर मोक्ष रूपी महल का निर्माण होता है । इसलिए सामायिक के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है ।

सामायिक का अर्थ-

एक वाक्य में सामायिक का अर्थ है-समता । अर्थात् विषमता से दूर रहना, समता को धारण करना । समता का नाम सामायिक है । हानि-लाभ में, शत्रु-मित्र पर समभाव रखने को सामायिक कहते हैं ।

सामायिक के द्रव्य एवं भाव इस प्रकार दो भेद भी होते हैं । मुँहपत्ती, चादर आदि सामायिक की पौशाक को धारण करना द्रव्य सामायिक कहलाती है । उसी के आगे बढ़कर जिस समय व्यक्ति विधियुक्त सामायिक स्वीकार कर लेता है तब वह भाव सामायिक कही जाती है ।

'समता सर्वभूतेषु, संयम शुभ-भावना ।
आर्त रोद्र परित्याग स्तद्धि, सामायिकं वृत्तम ॥

अर्थात् समस्त जीवों पर समभाव रखना, पाँचों इन्द्रियों पर संयम (नियन्त्रण) रखना, अन्तर में शुभ भावना रखना, तथा आर्त्त रौद्र ध्यान का त्याग करना सामायिक है ।

भगवती सूत्र में सामायिक के लिए कहा है-

'आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे ।

अर्थात् आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है, सामायिक का फल है । सामायिक का अर्थ है- समभाव, समताभाव, जीवन में समता का संचार, आत्मा की विकार एवं कषाय रहित शुद्ध अवस्था, स्व-स्वरूप परिणति ।

शब्दार्थ-

सर्व जीवेषु मेत्री साम, साम्बो आय = लभ सामाय: स एव सामायिकम् ।

1. सामायिक दो शब्दों से बना है- सम+आय । सम का अर्थ है सभी जीवों के साथ मैत्री भाव, आयका अर्थ लाभ । तात्पर्य यह है कि समस्त प्राणियों के साथ मैत्री भाव रखने से जिस लाभ की प्राप्ति हो उसे सामायिक कहते हैं ।

सम्यक् शब्दार्थ: समशब्द: सम्यगयनं वर्तनम् समय: स एव सामायिकम् ।

2. सम यानि अच्छा अयन यानि आचरण अर्थात् अच्छा आचरण करना सामायिक है ।

3. सम+आय अर्थात् समता भाव की प्राप्ति जिस क्रिया द्वारा हो उसे सामायिक कहते है ।

4. सम+अयन अर्थात् ज्ञान दर्शन एवं चारित्र में प्रवृत्ति करना सामायिक है ।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि समभाव की प्रवृत्ति ही सामायिक है । शुद्ध आत्मा का स्वभाव है- समभाव। सामायिक आत्मा को शुद्ध बनाने की प्रवृत्ति है, मोक्ष का साधन है ।

सामायिक के भेद-

यों तो सामायिक का सम्वन्ध आत्मा से है परन्तु त्याग की

न्यूनाधिकता की अपेक्षा से सामायिक दो प्रकार की है-

'आगार सामाइए चेव, अणगार सामाइए चेव'

स्थानांग सूत्र स्था. 2-303

श्रावक की सामायिक एवं साधु की सामायिक की दृष्टि से सामायिक के दो भेद किया हैं । श्रमण निर्ग्रन्थ के लिए सामायिक यावज्जीवन के लिए होती है, जबकि श्रावक की सामायिक मर्यादित काल के लिए होती है । साधु तीन करण, तीन योग से जीवन पर्यन्त के लिए पाप युक्त कार्यों का त्याग करते हैं, सामायिक ग्रहण करते हैं, जबकि गृहस्थ श्रावक दो करण, तीन योग से पाप युक्त कार्यों का मर्यादित समय के लिए ही त्याग करते हैं । एक सामायिक के लिए 48 मिनट की काल मर्यादा है, जिसे दो घड़ी या एक मुहूर्त भी कहते हैं ।

सामायिक को ग्रहण करने के लिए 'करेमि भंते' का पाठ है। श्रावक और साधु के पाठों में थोड़ा अन्तर है । श्रावक के लिए जहाँ 'सावज्जं' शब्द आता है वहाँ साधु के लिए 'सव्वं सावज्जं' शब्द है, 'जाव नियमं' के स्थान पर 'जावज्जीवाए' है, 'दुविहं तिविहंणं' के स्थान पर 'तिविहं तिविहेणं' शब्द है तथा साधु के लिए 'करंतपि अन्नं न समणुज्जाणामि' पद अधिक बोला जाता है । इस प्रकार दोनों की सामायिक में बहुत अन्तर है । फिर भी सामायिक के काल में गृहस्थ आंशिक रूप से साधना का अभ्यास करता है, साधु जीवन जैसा निज जीवन बनाने का कुछ प्रयत्न करता है । इसलिए उसे प्रतिदिन आवश्यक रूप से सामायिक करनी चाहिये ।

सामाइयम्मिउकए, समणोइव सावओ हवई जम्हा ।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥

(विशेषावश्यक भाष्य)

मोक्ष का सर्वोत्तम साधन–सामायिक–

संक्षेप में आज इस उत्तम प्रवृत्ति की जानकारी भी कर लें।

सामायिक मोक्ष का अंग है । सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा है कि जिस प्रकार चन्दन काटने वाले शस्त्र को भी सुगन्धित कर देता है, उसी प्रकार सामायिक भी जीवन को उच्चता के शिखर पर पहुँचा सकती है ।

सामायिकं च मोक्षांग, परं सर्वज्ञ भाषितम् ।
वासी चन्दन-कल्पनामुक्तमेतन्महात्मनाम् ॥

(अष्ट प्रकरण-29/1)

सामायिक का महत्व बताते हुए आचार्य हरिभद्र ने कहा है-

सामायिक विशुद्धात्मा सर्वथा घाति कर्मणः ।
क्षमात्केवलमाप्नोति, लोकालोक प्रकाशकम् ॥

अर्थात् सामायिक के द्वारा आत्मा घाति कर्मों का सर्वथा नाश कर केवलज्ञान प्राप्त कर सकती है । मोक्ष प्राप्ति में सहायक साधन के महत्व को स्पष्ट करने के लिए कुछ और उदाहरण प्रस्तुत है ।

'जे केवि गया मोक्खं, जेवि य गच्छन्ति जे गमिस्सति ।
ते सव्वे सामाइय पभावेण मुणे यव्वं ॥'

अर्थात् भूत काल में जो मोक्ष गये हैं, वर्तमान में जा रहे हैं और भविष्य में जो जावेंगे वे सभी सामायिक के प्रभाव से ही ऐसा कर पाये हैं ।

दिवसे-दिवसे लक्खं देई, सुवण्णस्य खंडियं एगो ।
एगो पुण सामाइयं, करेई न पहुप्पए तस्स ॥

सामायिक से होने वाले पुण्य की समानता प्रतिदिन लाख स्वर्ण मुद्राएँ दान में देने से भी नहीं हो सकती । वास्तव में सामायिक मोक्ष प्राप्ति का एक सर्वोत्तम, अनुपम एवं विशिष्ट साधन है । चरम तीर्थङ्कर भगवान महावीर स्वामी ने महाराजा श्रेणिक को नरक गति से बचने के लिए पूर्णिया श्रावक की केवल एक सामायिक क्रय करने

के लिए कहा। परन्तु ऐसे उत्तम आध्यात्मिक साधन को क्या कभी द्रव्य द्वारा क्रय किया जा सकता है ? कदापि नहीं। क्रय करना तो दूर रहा महाराजा श्रेणिक जैसा ऋद्धि सम्पन्न व्यक्ति सामायिक की दलाली का मूल्य चुकाने में भी समर्थ नहीं हो सकता। ऐसी शुद्ध सामायिक यदि जीवन में उतर जावे तो द्रंव्य पदार्थों से उसकी तुलना नहीं की जा सकती।

किं तिव्वेण तवेणं कि च जवेण कि चरिस्सेणं।
समयाई विण मुक्खो न हु हुओ कहवि न हु होई ॥

समभाव के अभाव में बाह्य क्रियाएँ भी विशेष लाभप्रद नहीं होती। जीवन में वास्तविक सामायिक आए बिना कठोर तप निरन्तर जप एवं चारित्र का पालन भी मोक्ष प्राप्ति में सक्षम नहीं है।

दैनिक जीवन में सामायिक का महत्व-

मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में सामायिक के महत्व को अतिसंक्षेप में समझाने का प्रयत्न किया है। लेकिन सामायिक के वास्तविक स्वरूप को समझना चाहिये। दो घड़ी के लिए किसी स्थान पर केवल मुख वस्त्रिका मुँह पर बाँध कर या सामायिक का उपक्रम कर लेने मात्र से वास्तविक लाभ सम्भव नहीं है। सामायिक जीवन में उतरनी चाहिये। सम्पूर्ण जीवन ही सामायिकमय होना चाहिये। जब सामायिक जीवन में आ जावेगी तब साधक प्रति समय, प्रत्येक स्थान पर समभाव में रमण कर सकेगा।

खाना-पीना, व्यापार-व्यवसाय एवं अन्य सांसारिक कार्य करते समय में भी सामायिक का प्रभाव बना रहना चाहिये। जव सामायिक जीवन में आ जावेगी तब साधक प्रति समय, प्रत्येक स्थान पर समभाव में रमण कर सकेगा।

किसी नगर में एक झगड़ालु बुढ़िया रहती थी। पास-पड़ोसी ही नहीं वरन् नगर के सभी परिवार बुढ़िया के झगड़ने की आदत से

तंग आ गये । इसलिए उन्होंने बुढ़िया से लड़ाई करने के लिए शहर में सभी परिवारों के ओसरे तय कर दिये । बुढ़िया अपने क्रम के अनुसार प्रतिदिन एक परिवार के घर जाकर झगड़ा करती जिससे उस दिन के लिए अन्य परिवार तो शान्तिमय जीवन व्यतीत कर सकें । परन्तु जिस परिवार से वह झगड़ा करने जाती उनका सारा परिवार उस दिन दुःखी हो जाता था ।

एक बार एक परिवार में नवविवाहिता आई । उसके आने के ठीक दूसरे ही दिन बुढ़िया से झगड़ने का ओसरा इसी परिवार का था । परिवार के सदस्य चिन्तित हो गए । उन्हें इस बात की विशेष चिन्ता थी कि नई बहू क्या समझेगी? बहू के जीवन पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा । उन्होंने अपनी चिन्ता बहू से नहीं कही लेकिन बहू समझदार थी । उसके जीवन में सामायिक का प्रभाव था इसलिए उसने सम्पूर्ण परिस्थिति का पता लगा लिया । बहू ने परिवार वालों से विनम्र शब्दों में कहा-'आप चिन्ता त्यागें । बुढ़िया से कल झगड़ा मैं करूँगी ।'

सास ने कहा- 'नहीं, तुम झगड़ना क्या जानो ? वह बुढ़िया बहुत झगड़ालू एवं खराब हैं । उससे झगड़ना बहुत कठिन काम है ।'

बहू- 'नहीं माताजी ! आप चिन्ता न करें । कल तो बुढ़िया से मुझे ही निपटने दें । मैं उसे सदैव के लिए झगड़ना भुला दूँगी । बहू ने समझा-बुझाकर परिवार वालों से सहमति प्राप्त कर ली ।

दूसरे ही दिन प्रातः बहू ने बुढ़िया से झगड़ने की तैयारी कर ली । हाथ में माला एवं एक पुस्तक लेकर मकान के मुख्य द्वार पर बैठ गई । इतने मे बुढ़िया भी आ गई । उसने देखा कि इस परिवार में नई बहू आई है और वही लड़ने-झगड़ने के लिए तैयार है, तो उसे बहुत प्रसन्नता हुई । बुढ़िया ने सोचा कि आज झगड़ने का विशेष मजा आयेगा । बुढ़िया ने दरवाजे के निकट आकर बहू को

गालियाँ देना प्रारम्भ किया । कुछ देर तक बुढ़िया गालियाँ देती रही ।

बहू ने पहले ही निर्णय कर लिया था कि आज सामायिक की परीक्षा है । समभावपूर्वक सहन करना है । अतः माला फिराती रही और मौन रही । जब बुढ़िया ने देखा कि बहू उसकी गालियों का कोई उत्तर नहीं दे रही है तो उसने बहू के परिवार वालों को सम्बोधित किया एवं गालियाँ देना प्रारम्भ किया । फिर भी बहू मौन थी ।

झगड़ा तब ही ठीक चलता है जब दोनों पक्षों के व्यक्ति झगड़े में सम्मिलित हो । लेकिन यहाँ बात भिन्न थी । बुढ़िया अकेली बोल रही थी, अकेली झगड़ रही थी इसलिए बुढ़िया थक गई । तब बहू ने कहा- माँजी ! आपका कार्य हो गया ? तब बुढ़िया पुनः उसी प्रकार क्रोधित होकर बोलने लगी । लेकिन आखिर कब तक बोलती । इधर भोजन का समय भी हो गया । सास ने बहू को भोजन करने के लिए बुलाया तो बहू ने भोजन उसके पास भेज देने के लिए कहा। भोजन की थाली बहू के पास रख दी गई । इधर बुढ़िया पुनः थक कर चुप हो गई तो बहू ने बुढ़िया को भोजन करने के लिए कहा ।

बस फिर क्या था ? बुढ़िया का पारा पुनः गर्म हो गया एवं गालियाँ देने लगी ।

बुढ़िया निरन्तर अकेली ही बोल रही थी इसलिए बहुत थक गई, उससे बोला भी नहीं जा रहा था फिर भी ताकत लगाकर बोल रही थी । झगड़ने का उसे आनन्द नहीं आया, क्योंकि बहू पूर्ण शान्त थी । इसलिए आखिर अकेली कब तक झगड़ती । अन्त में स्थिति ऐसी हो गई कि बोलते-बोलते बुढ़िया बेहोश होकर भूमि पर गिर गई । बुढ़िया के गिरते ही बहू ने उसे सम्भाल लिया । अपनी गोद में बुढ़िया का मस्तक रख कर पंखे से धीरे-धीरे हवा करने लगी, ठंडे पानी का प्रयोग किया । थोड़ी ही देर में बुढ़िया की

बेहोशी दूर हो गई । बहू ने प्रेमपूर्वक बुढ़िया की ओर देखा, उसे ठण्डा पानी पिलाया, पंखे से हवा की । यह दृश्य देखकर बुढ़िया चकित हो गई । उसे स्वप्न में भी ऐसी आशा नहीं थी ।

बहू ने समझाया- 'माताजी ! आप इतना क्रोध क्यों करती है ? झगड़ा करने से आपका स्वास्थ्य भी खराब हो रहा है । आप बहुत कमजोर हो गयी हैं । आज यदि मैं आपको न सम्भालती तो बेहोश अवस्था में आपकी क्या स्थिति होती ? झगड़ा करने से आपको भयंकर कर्मों का बन्ध भी होता है ।' इस प्रकार उचित अवसर देखकर बहू ने बुढ़िया को समझाने का प्रयत्न किया । बुढ़िया को बहू की बात अच्छी लगी परन्तु वह कब हार मानने वाली थी । बुढ़िया ने कहा- 'अच्छा मैं अब चली जाती हूँ तथा तुझसे झगड़ा नहीं करूँगी, परन्तु इस घटना की चर्चा कहीं मत करना अन्यथा कल मैं झगड़ा कैसे करूँगी ?'

बहू ने कहा- 'माताजी ! यह बात तो सारे शहर में फैल जायेगी, सभी व्यक्ति इस घटना से परिचित हो जावेंगे तथा कल भी यही दशा होगी जो आज हुई । मैं कल के ओसरे वाले परिवार से भी मेरी तरह व्यहवहार करने को कहूँगी ।'

बहू ने शान्तिपूर्वक बुढ़िया को समझाया । बुढ़िया के समझ में आ गया तथा उसने सदैव के लिए झगड़ा करना त्याग दिया । इस उदाहरण से हमें समझना यह है कि बहू ने सामायिक के स्वरूप को समझ लिया था इसलिए वह बुढ़िया पर विजय प्राप्त कर सकी, उसे परिवर्तित कर सकी ।

अन्य आवश्यक बातें-

कई भाई-बहिन प्रतिदिन सामायिक करते हैं । सामायिक करना नितान्त आवश्यक है । लेकिन मैं चाहता हूँ कि आप कुछ परिवर्तन लावें एवं शुद्ध सामायिक करने का अभ्यास बनावें । मैं

आपकी सामायिक की प्रवृत्ति की आलोचना नहीं करता, परन्तु उसमें संशोधन देना चाहता हूँ, सुधार चाहता हूँ।

सामायिक सदैव शान्त, एकान्त स्थान पर करें। यथासम्भव यह पवित्र कार्य स्थानक (धर्मस्थान) में अधिक उपयुक्त रहेगा। एकान्त स्थान में मन पर अधिक नियन्त्रण सम्भव है। सामायिक के वस्त्र भी सादे, अल्पमूल्य वाले एवं शुद्ध हों। सामायिक में सादगी नितान्त आवश्यक है। चमकीले वस्त्र एवं आभूषण सामायिक की साधना के लिए उपयुक्त नहीं है। अल्प आरम्भ से बने हुए साधारण स्वच्छ वस्त्र का प्रयोग करना अधिक उपयोगी होगा। बहिनें धर्मस्थान में बहुमूल्य वस्त्र एवं आभूषण धारण करके आती हैं यह उचित नहीं है।

सामायिक किसी भी समय की जा सकती है। फिर भी प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त इस कार्य के लिए बहुत बच्छा है। रात्रि को भी सामायिक करना उचित है। सामायिक का काल ऐसा हो जब चित्त में शान्ति हो।

स्वाध्याय करें-

सामायिक को बेगार या भार समझकर नहीं करें, वरन् जीवन का आवश्यक अंग समझकर आत्मोत्थान के लिए सामायिक करें। सामायिक में व्यर्थ की बातों का त्याग करें एवं स्वाध्याय करें। स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन आदि को सामायिक का आवश्यक अंग बनावें। सामायिक हम किसी और के लिए नहीं वरन् स्वयं अपने ही लिए करते हैं। इसलिए उल्लास एवं उत्साह पूर्वक सामायिक करें। सामायिक में विकथा का त्याग करें। परन्तु साथ ही स्वाध्याय अवश्य करें। केवल माला फिराना, प्रार्थना-भजन वोल लेना या आनुपूर्वी आदि गिन लेना ही पर्याप्त नहीं होगा। मैं इनका निषेध नहीं करता लेकिन सामायिक में स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन, मनन अत्यन्त आवश्यक है।

दैनिक जीवन-

सामायिक का प्रभाव दैनिक जीवन पर भी स्पष्ट दृष्टिगत होना चाहिये । खान-पान सात्विक हो, रहन-सहन सदा एवं कुल मर्यादा के अनुकूल हो । तात्पर्य यह है कि दूसरों के देखा-देखी फैशन के बहाव में न बहें । साथ ही जीवन को प्रमाणिक बनावें । सामायिक जैसी पवित्र एवं उत्तम साधना करने के बाद भी जीवन में परिवर्तन न आवे, जीवन में सत्य, अहिंसा, अचौर्य आदि का प्रादुर्भाव न हो ऐसा कभी सम्भव नहीं है । विषय और कषायों में मंदता लावें, जीवन उन्नत बनावें-अनुकरणीय बनावें, समता का विकास करें । जिस प्रकार थोड़े से समय में किया गया भोजन दिन भर शक्ति प्रदान करता है, घड़ी में थोड़े से समय में भरी गई चाबी दिन भर चलती है । ठीक उसी प्रकार दो या चार घड़ी की सामायिक जीवन को प्रामाणिक बनावें तथा उत्थान की ओर अग्रसर करें ।

जीवन को बदलो-

यदि सामायिक से निवृत्त होने के बाद पुनः काले धन्धे चालू रहें, झूँठ प्रपंच चालू रहे, इर्षा-द्वेष बना रहे तो यह शोभास्पद बात नहीं है । इसलिए सामायिक के प्रभाव से जीवन सुधरना चाहिये । सामायिक के प्रभाव से जीवन में सरलता, प्रेम मानवता उभरे, सन्तोष की अभिवृद्धि हो ।

आचार्य अमितगति के शब्दों में-

'सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विध्धातुदेव॥'

ऐसी भावनाएँ बने । संसार के समस्त प्राणियों के प्रति हमारा मैत्री भाव हो, गुणीजनों के प्रति प्रमोद भाव हो, दु:खीजनों के प्रति करूणा भाव हो तथा विपरीत परिस्थितियों में भी विरोधियों के प्रति भी माध्यस्थ भाव हो, यह सामायिक का प्रतिफल है ।

लेकिन आजकल परिस्थितियाँ कुछ विचित्र हैं। ऐसे उदाहरण भी देखने में आते हैं कि सामायिक करते-करते कई वर्ष हो गए, मुँह पर मुँहपत्ति के धागे के निशान भी बन गये, परन्तु मनोवृत्तियों में सुधार नहीं हुआ, जीवन में प्रमाणिकता नहीं आई। क्लेश और कदाग्रह नहीं छूटा। ऐसे व्यक्ति धार्मिक क्रियाओं को भी बदनाम करते हैं।

एक बार किसी नगर में सन्त पधारे। प्रतिदिन व्याख्यान होने लगे। एक दिन एक महिला व्याख्यान में देर से आई तथा दो रेत घड़ियाँ साथ में लाई। व्याख्यान का समय कम रह गया था फिर भी बाई ने सामायिक ग्रहण कर ली। अब रेत वाली घड़ियों को वह बार-बार हिलाती। इस प्रकार उस महिला ने समय से पूर्व सामायिक पूर्ण करने का प्रयत्न किया। लगभग 40 मिनिट में सामायिक पूर्ण हो गई और महिला ने सामायिक पार ली। सन्तों में से एक सन्त यह सब देख रहे थे। उन्होंने व्याख्यान के बाद पूछ ही लिया। महिला ने स्पष्ट कह दिया कि समय कम रहने से रेत को हिलाकर जल्दी खिरादी जिससे सामायिक जल्दी पूरी हो गई। सन्त ने पूछा- 'बाई! आप कभी इस रेत घड़ी को ओर कभी उस रेत घड़ी को क्यों हिलाती थी?' बाई का उत्तर था- 'महाराज सा.! मैं प्रत्येक घड़ी से एक-एक सामायिक ग्रहण की इस प्रकार एक ही काल में दो सामायिक पूरी हो गई।' आप ही विचार करें क्या यह उचित है? कदापि नहीं! यह तो अपने आपको धोखा देना है। सामायिक को ब्लेकमेल करना है। महिला ने पवित्र सामायिक को समझा ही नहीं। उसने तो रेत की घड़ियों को ही सामायिक समझ लिया होगा। धर्मस्थान में आकर भी मनोवृत्तियों को न बदलना कहाँ तक उचित है।

'अन्य स्थाने कृतं पापं, धर्मस्थाने विमुच्यते।
धर्मस्थाने कृतं पापं, वज्र लेपो भविष्यति॥'

अन्यत्र किये गये पापों को धर्मस्थान में जाकर धर्म क्रियाओं द्वारा नष्ट किया जाता है, परन्तु जो पाप धर्म स्थान में जाकर किये

जाते हैं उनकी निवृत्ति कैसे होगी ? सामायिक के द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध बनावें एवं मोक्ष मार्ग पर अग्रसर करें । कवि कहता है-

जीवन उन्नत करना चाहो तो सामायिक करलो ।
आकुलता से बचना चाहो तो सामायिक करलो ॥
तन-धन, परिजन सब सपने हैं, नश्वर जग में नहीं अपने हैं ।
अविनाशी सद्गुण पाना चाहो तो, सामायिक करलो ॥
चेतन निज घर को भूल रहा, पर-धन माया में झूल रहा ।
सद्चित आनन्द पाना चाहो तो, सामायिक करलो ॥
विषयों में निज गुण मत भूलो, अब काम क्रोध में मत झूलो ।
समता सर में नहाना चाहो तो, सामायिक करलो ॥

निःसंदेह सामायिक चिन्तामणि रत्न से भी बढ़कर है जिसके द्वारा अपने गन्तव्य स्थान-मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं ।

विधि-

सामायिक ग्रहण करने की विधि की जानकारी संक्षेप में कर लेवें ।

1. उपकरण- आसन, मुँहपत्ति, पूंजणी, माला, आनुपूर्वी, धार्मिक पुस्तक आदि । निर्वद्य एकान्त एवं शान्त स्थान पर पूंजणी से प्रमार्जन कर आसन बिछाया जावे । पगड़ी, कोट, कुर्ता आदि वस्त्रों को उतार कर श्वेत शुद्ध दुपट्टा एवं चोलपट्टा धारण कर, मुँह पर मुखवस्त्रिका बाँधकर, उत्तर या पूर्व की दिशा में मुँह करके खड़े होवें । फिर नवकार मन्त्र का तीन बार उच्चारण किया जावे ।

तीन बार गुरु वन्दना सूत्र (तिक्खुतो) से विधियुक्त वन्दना कर आलोयणा सूत्र (इरियावहियं अर्थात् इच्छाकारेणं का पाठ) एक बार कायोत्सर्ग सूत्र (तस्स उत्तरी) एक बार, आगार सूत्र (अन्नत्थ) एक बार बोलकर कायोत्सर्ग-ध्यान करना है । ध्यान खड़े रहकर या बैठे- टे किया जा सकता है । जिन मुद्रा में ध्यान किया जावे ।

ध्यान में लोगस्स (ध्यान में इच्छाकारेणं की भी परम्परा प्रचलित है, परन्तु लोगस्स अधिक उपयुक्त है) के पाठ का चिन्तन करें तथा 'नमो अरिहंताणं' कहकर ध्यान खोलना चाहिये। प्रगट में 'नमस्कार मन्त्र' बोलकर ध्यान पालने का पाठ एवं एक बार 'लोगस्स' का पाठ बोलना। फिर गुरुजन हों तो उनकी ओर मुख करके और गुरुजन न हों तो उत्तर या पूर्व दिशा की ओर मुँह करके गुरु वन्दन के पाठ से विधियुक्त तीन बार वन्दन करें तथा प्रतिज्ञा सूत्र (करेमि भंते के पाठ) से सामायिक ग्रहण करें एवं दो बार नमोत्थुणं का पाठ बायां घुटना ऊँचा रखकर बोलें। पाठ के अन्त में पहली बार 'ठाणं सम्पत्ताणं' बोलें और दूसरी बार ठाणं 'संपाविउं कामाणं' बोलें।

फिर सामायिक के काल में स्वाध्याय, धर्म चर्चा, प्रार्थना आदि धर्म क्रियाएँ करें तथा समीक्षण ध्यान के माध्यम से अन्तरप्रवेश का प्रयास करें।

दोष-

यद्यपि सामायिक बहुत शुद्ध एवं पवित्र साधना है तथा उसमें पूर्ण सावधानी रखना आवश्यक है। सामायिक के काल में मन, वचन एवं काया के योगों पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। पूर्ण सावधानी रखते हुए भी सामायिक में दोष लगने का अंदेशा रहता है। दोषों से बचना चाहिये। सामायिक में मन, वचन एवं काया के 32 दोषों का उल्लेख आता है। साधक को इन दोषों से बचना चाहिये। दोषों की जानकारी होने पर बचने का प्रयत्न किया जा सकता है। इसलिए संक्षेप में 32 दोषों की जानकारी इस प्रकार है-

1. अविवेक- सामायिक में सावद्य-निर्वद्य, उचित-अनुचित का विवेक न रखना।

2. यशकीर्ति- यश या प्रशंसा की इच्छा से सामायिक करना।

3. <u>लाभार्थ-</u> धन आदि के लाभ की भावना से सामायिक करना ।

4. <u>गर्व-</u> जाति, कुल आदि या अन्य किसी प्रकार का अभिमान करना ।

5. <u>भय-</u> लोकनिन्दा का भय, राजकीय भय या अन्य किसी भी प्रकार के भय के कारण सामायिक करना ।

6. <u>निदान-</u> भौतिक फल की इच्छा से यथा- मेरी सामायिक का यदि कोई फल होता हो तो मुझे अमुक सामग्री मिले । जैसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने अपने पूर्व के संभूति के भव में निदान किया था।

7. <u>संशय-</u> सामायिक के फल में शंका करना ।

8. <u>रोष-</u> सामायिक में राग-द्वेष, क्रोध आदि करना ।

9. <u>अविनय-</u> देव, गुरु, धर्म का विनय न करना या विनय भाव रहित सामायिक करना ।

10. <u>अबहुमान-</u> अनादर भाव से बेगार समझकर सामायिक करना ।

वचन के दस दोष-

1. <u>कुवचन-</u> गन्दे और कषायजनक शब्द बोलना ।

2. <u>सहसाकार-</u> सहसा, बिना विचारे असत्य वचन बोलना।

3. <u>स्वच्छन्द-</u> धर्म विरुद्ध मनमाने वचन बोलना ।

4. <u>संक्षेप-</u> पाठों को संक्षेप में बोलना ।

5. <u>कलह-</u> क्लेशकारी वचन बोलना ।

6. <u>विकथा-</u> स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा एवं राजकथा आदि करना ।

7. हास्य- व्यंग्य पूर्ण बोलना, हँसी मजाक करना ।

8. अशुद्ध- पाठों का अशुद्ध उच्चारन करना ।

9. निरपेक्ष- उपयोग रहित, सिद्धान्त की उपेक्षा करके वचन बोलना ।

10. मुम्मुन- पाठों को गुनगुनाते हुए अस्पष्ट बोलना।

काया के बारह दोष-

1. कुआसन- अभिमान एवं अविनय के आसन से बैठना ।

2. चलासन- बार-बार आसन बदलना ।

3. चल दृष्टि- दृष्टि को स्थिर नहीं रखना ।

4. सावद्य क्रिया- पापकारी कार्य करना ।

5. आलम्बन- अकारण दिवाल आदि का सहारा लेना।

6. आकुचन प्रसारण- बिना कारण शरीर के अंगों को फैलाना और समेटना ।

7. आलस्य- अंगड़ाई लेना, आलस्य में समय व्यतीत करना।

8. मोड़न- अंगुलियाँ चटकाना ।

9. मल- शरीर का मेल उतारना ।

10. विमासन- शोक युक्त आसन से बैठना, बिना पूंजे खुजलाना ।

11. निद्रा- ऊँघना या नींद लेना ।

12. वैयावृत्य- निष्कारण दूसरों से सेवा कराना ।

सामायिक में उपरोक्त दोषों से बचना चाहिये ।

मन पर नियन्त्रण-

कई भाई प्रश्न करते हैं कि मन पर नियन्त्रण करना अत्यन्त दुष्कर है और जव मन चंचल रहता है तो सामायिक करने से क्या लाभ है ?

प्रश्न महत्वपूर्ण है परन्तु इसे समझना चाहिये । मन वास्तव में बहुत चंचल है । इस पर नियन्त्रण करना कठिन है फिर भी असम्भव नहीं है । यदि सामायिक के काल में स्वाध्याय किया जावे, मन पर नियन्त्रण पाने का प्रयत्न किया जावे तो सफलता अवश्य मिलती है । जो व्यक्ति सामायिक में स्वाध्याय नहीं करते या फालतु बैठे रहते है उनका मन तो इधर-उधर भटक सकता है, अन्यथा मन स्थिर भी किया जा सकता है । अभ्यास से कठिन से कठिन कार्य सम्भव है । कवि ने कहा है-

करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान ।
रसरी आवत जात ते, सिल पर परत निशान ॥

रस्सी के बार-बार लगने से पत्थर जैसा कठोर पदार्थ भी घिस जाता है तो फिर मानव के मन में परिवर्तन आना क्या कठिन है ? इसलिए मन पर विजय पाने के लिए निरन्तर अभ्यास करना चाहिये । यदि आरम्भ में मन पर नियन्त्रण नहीं रहे तो घबराने या निराश होने की आवश्यकता नहीं है ।

स्वाध्याय रूपी लगाम से मन रूपी घोड़े पर नियन्त्रण पाना सरल है । जो मन को वंश में कर लेता है वह महान है । कहा है-

'मनोविजेता जगतोविजेता'

अर्थात् मन को जीतने वाला संसार को जीतने वाला होता है । सब का लक्ष्य है, मुक्त होना । सामायिक मुक्त होने का साधन है । इसलिए साधुवर्ग तो जीवन पर्यन्त की सामायिक करता है और हम भी पर्युषण पर्व के इस पावन प्रसंग पर प्रतिदिन नियमित सामायिक करने का संकल्प करें । हमारा जीवन सामायिक के द्वारा उज्ज्वल बनेगा । किसी कवि ने कहा है-

करलो सामायिक रो साधन, जीवन उज्ज्वल होवेला ।
सत्संगत और शान्त स्थान दोष बचावेला ।
फिर सामायिक साधन करने, शुद्धि मिलावेला ॥ करलो...

दोय घड़ी निज रूप रमण कर जग विसरावेला ।
धर्म ध्यान में लीन होय, चेतन सुख पावेला ॥ करलो...
सामायिक से जीवन सुधरे, जो अपनावेला ।
निज सुधार से देश जाति सुधरी हो जावेला ॥ करलो...

आप समझ गये होंगे कि सामायिक की साधना का क्या महत्व है ? इसलिए आप भी सामायिक को जीवन का अंग बनावें एवं इसकी शुद्ध आराधना करें । शुद्ध सामायिक द्वारा मोक्ष प्राप्ति संभव है । प्रार्थना की कड़ियों में कवि भी कहता है कि हे प्रभो ! मैं भी आपके ही समान बनूँ । प्रभु के समान बनने के लिए समता को जीवन में लाना होगा । अतः प्रमाद का त्याग करें और समय का सदुपयोग करें ।

कवि ने कहा है-

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब ।
पल में प्रलय होयगो, बहुरी करेगे कब ॥

भगवान महावीर ने भी कहा है-

'समयं गोयम ! या पमायए ।'
अर्थात् हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

यदि आत्मा का उत्थान करना चाहते हों तो सामायिक को अपनायें, समता धारण करें । अन्तर हृदय से सामायिक को ग्रहण करें । मोती प्राप्त करने के लिए गोताखोर समुद्र के भीतर प्रवेश करते हैं । केवल उपर तैरने से मोती नहीं मिलते । इसलिए कहा है-

जिन खोजा तिन पाईया, गहरे पानी पेठ ।

यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी ।

जैसी भावना होती है, वैसे ही फल की प्राप्ति होती है ।

महान पर्व संवत्सरी

आत्मोत्थान का यह पर्व शान्ति एवं समता का स्त्रोत है, पापों को नष्ट करने वाला है । आज का यह महान पर्व किसी वर्ग, जाति या समाज विशेष का नहीं है, यह तो मानव मात्र का है । चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी आदि के समान यह पर्व प्राणी मात्र के लिए उपयोगी है । कषाय रूपी अग्नि को शान्त करने के लिए, मनोमालिन्य को धोने के लिए यह पर्व स्वच्छ, शीतल जल के समान है । यह शान्ति एवं साधना का पर्व है, क्षमा और आलोचना का पर्व है । अतः आज के पावन अवसर पर सभी अन्तःकरण से क्षमायाचना करें एवं क्षमा प्रदान करें ।

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ति में सव्व भूएसु, वेरं मज्जं ण केणई ॥

पंथड़ो निहालुं रे, बीजा जिन तणो रे, अजित अजित गुण धाम।
जे ते जीत्या रे, तेणे हुं जीतियो रे, पुरुष किश्युं मुझ नाम ?

यह जिनेश्वर प्रभु अजितनाथजी की प्रार्थना है। भक्त कवि श्री आनन्दघनजी कहते हैं कि वर्तमान चौवीसी के दूसरे तीर्थंकर श्री अजितनाथजी के मार्ग को जानना चाहता हूं। हे प्रभु ! आप नाम से भी अजित हैं और कार्य से भी अजित हैं। आपको जीतने की शक्ति संसार के किसी पदार्थ में नहीं है। यही नहीं, आपने राग-द्वेष रूपी महान शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है। अतः आप समस्त गुणों के भण्डार हैं। आपके गुणों का वर्णन करना मेरे बस का कार्य नहीं है।

आगे कवि कहता है कि हे प्रभु ! बड़ी विचित्र स्थिति है। आपने जिन कर्मों को जीत लिया है, उन्हीं कर्मों ने मुझे दबोच रखा है, मुझ पर अपना आधिपत्य जमा रखा है। अब आप ही बताएँमैं पुरुष किस प्रकार हूं ? अर्थात् मेरा पौरुष कुण्ठित हो चुका है। अरे, आपश्री ने तो पुरुषोचित कार्य कर राग-द्वेष को परास्त कर दिया, परन्तु मैं तो इनसे हारा हुआ हूं। इसलिए मेरा पुरुष कहलाना व्यर्थ है, एक विडम्बना है, मिथ्या दम्भ है। आपने अपना पौरुषत्व जागृत कर दिया है, आप आत्मा से परमात्मा वन चुके हैं। लेकिन मैं तो अब भी प्रगाढ़ निद्रा में सोया हुआ हूं इसलिए परम पद को प्राप्त नहीं कर पाया हूं। किसी कवि ने भी कहा है-

जो सोया सिंह जगायेगा, नर नारायण बन जायेगा।
जो आत्म ज्योति जगायेगा, नर नारायण बन बन जायेगा ॥

अध्यात्म योगी आनन्दघनजी भी यही कहते हैं कि हे प्रभु अजित जिनेश्वर ! मैं अपनी आत्म ज्योति को जगाकर आपके मार्ग का अनुगामी वनना चाहता हूं। वे आगे कहते हैं-

चरम नयण करी मारग जोवतां रे, भूल्यो सयल संसार।
जेणे नयणे करी मारग जोइये रे, नयण ते दिव्य विशाल ॥

हे प्रभु ! मैंने इन चर्म चक्षुओं से आपका मार्ग देखना चाहा तो संसार में परिभ्रमण किया। इन चर्म चक्षुओं से आपके मार्ग को पहचानना संभव नहीं है। उसके लिए तो आपके जैसी दिव्य-दृष्टि होना आवश्यक है। वीतराग मार्ग को समझने के लिए अपनी दृष्टि बदलनी होगी। जब अन्तरदृष्टि से देखेंगे तो दिव्य विचार उत्पन्न होंगे, भेद विज्ञान होगा। अभी मैं संसार मार्ग में आसक्त हूं। धन, कुटुम्ब-परिवार, शरीर आदि को मैं अपना समझ रहा हूं, लेकिन जब मेरी अन्तर-दृष्टि जागृत होगी तो तत्त्व निर्णय कर सकूंगा, आत्मा और शरीर के भेद को समझ सकूंगा। मैं सिद्ध स्वरूप शुद्ध आत्मा हूं, यह धन, वैभव, हाट, हवेलियां, पारिवारिक जन, यहां तक कि यह शरीर भी मेरा अपना नहीं है। मैं चेतन हूं, ये जड़ पदार्थ हैं। मैं जीव हूं, ये सभी पुद्‌गल हैं। मैं इन सबसे भिन्न हूं। यह आपका दिव्य मार्ग है और चर्म चक्षुओं से ऐसा दिव्य मार्ग नहीं देखा जा सकता। इसके लिए तो आपके जैसी अन्तर-दृष्टि की आवश्यकता है। हे प्रभु ! मुझे भी अन्तर-दृष्टि प्राप्त हो।

आज पर्युषण पर्व का अन्तिम दिवस है। इसे क्षमा दिवस के रूप में मनाते हैं। गत सात दिनों की साधना द्वारा आज लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हैं। आध्यात्म योगी आनन्दघनजी ने प्रभु की प्रार्थना करते हुए कहा है कि आपने जिन कषायों पर विजय प्राप्त की है, उन कषायों को मुझे जीतना है। कषाय का प्रथम अंग क्रोध है। क्रोध को क्षमा से परास्त किया जा सकता है।

आत्मा को आलोकित करने का अपूर्व अवसर–

पर्युषण का यह पावन प्रसंग आत्म-शान्ति प्रदान करने के लिए प्रति वर्ष उपस्थित होता है। गत सात दिनों से आज के इस संवत्सरी महापर्व की प्रतीक्षा कर रहे थे। आज पर्व का शिखर दिवस है। यों तो आठों ही दिवस आध्यात्मिक दृष्टि से, आत्मोत्थान

की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, परम मंगलकारी हैं । लेकिन गत सात दिवस की अपेक्षा आज के दिवस का विशेष महत्त्व है । जिस प्रकार हम लोग दिपावली के पूर्व घरों की सफाई करते हैं, मकानों में सफेदी करते हैं, कूड़ा-कचरा बाहर फेंक देते हैं तथा दीपावली के दिन दीपक जलाकर घरों को प्रकाश से आलोकित करते हैं, उसी प्रकार आज का दिवस आध्यात्मिक दीपावली का पावन दिवस है । गत सात दिनों में सुज्ञ व्यक्ति, भव्य प्राणी अपनी आत्मा रूपी मकान में रहे हुए कषाय रूपी कचरे को निकालने का प्रयत्न करते हैं, आत्म शुद्धि करते हैं तथा आज के दिवस में उपवास धारण कर सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप की आराधना द्वारा आत्मा को आलोकित करते हैं । यह पर्व संदेश देता है कि अनादि काल से है जीव तेरी यह आत्मा कषाय से रंजित है, आत्मा पर कर्म रूपी कचरा-मैल लगा हुआ है और अब इसे स्वच्छ कर, तपस्या के माध्यम से जला दे, जीवन में समता रस का संचार कर और अपने शाश्वत सुख के मार्ग पर कदम बढ़ा ।

वार्षिक लेखा-जोखा देखें-

व्यापारी-व्यवसायी वर्ष में एक बार वर्ष भर का हिसाब तैयार कर हानि-लाभ का लेखा-जोखा करते हैं । आज के इस पावन प्रसंग से आत्मा के हानि-लाभ का लेखा-जोखा देखने का अवसर है । आज के दिन हम भी अपने वर्ष भर के अपराधों का अवलोकन करें, त्रुटियों को ढूंढने का प्रयास करें और उनके लिए प्रायश्चित करें, प्रायश्चित लें, क्षमायाचना करें । कर्म मल को जलाकर आत्मा को शुद्ध बनाने का यह पावन अवसर है । लेखा-जोखा देखने से आशय केवल यह नहीं है कि वर्ष में हमने कितनी सामायिक की, उपवास, पौषध, दया की, कितने प्रवचन सुनें या किन-किन मुनिराजों-महासतियों के दर्शन किये ? ये तो हम करें ही, लेकिन आज हम यह विचार करें कि हमने कषाय को (राग-द्वेष) कितना घटाया है ? प्रवचनों को कितने अंश में जीवन में उतारा है ? अपने

जीवन में प्रेम, करूणा, सहिष्णुता, मैत्री, दया-दान, सरलता, मधुरता आदि गुणों को कहाँ तक विकसित किया है ? प्रवचनों को सुनने मात्र से विशेष लाभ नहीं होगा। उन्हें जीवन में स्थान देने से ही सुनने की सार्थकता है । राजकुमार गजसुकुमाल और अर्जुनमाली ने केवल एक ही बार प्रभु का उपदेश सुना और जीवन को राजमार्ग-मोक्षमार्ग पर लगा दिया । कवि ने कहा है-

चन्दन की चुटकी भली, गाड़ी भरी न काठ ।
चतुर तो एक ही भली, मूरख भले न साठ ॥

अर्थात् हजारों मन लकड़ी की अपेक्षा चन्दन का एक टुकड़ा अच्छा है । यद्यपि दोनों लकड़ियाँ हैं । पत्थर, कङ्कर भी भूमि से प्राप्त होते हैं तथा स्वर्ण, रत्न आदि भी पृथ्वी से ही । परन्तु महत्व पत्थरों का नहीं, रत्नों का है, स्वर्ण का है । इसी प्रकार प्रवचन का जीवन में उतारने का महत्व है ।

आज का यह दिवस आत्मा का पर्व है । आत्मोत्थान का यह पर्व शान्ति का सन्देश वाहक, समता का संचार करने वाला है । पापों को नाश करने वाला है । यह किसी वर्ग जाति या समाज विशेष का नहीं है, वरन सबका है, मानव मात्र का है । जिस प्रकार चन्द्र सूर्य, पृथ्वी आदि सभी को यथायोग्य समान रूप से अपनी सामग्री प्रदान करते हैं, उसी प्रकार यह पर्व भी समग्र मानव समाज के लिए उपयोगी है । केवल जैन समाज ही इसका अधिकारी नहीं है, वरन् जो भी अपने आन्तरिक अन्धकार को दूर हटाना चाहता है, आत्मशोधन करना चाहता है, सुप्त आत्मा को जागृत करना चाहता है, वह इस पावन अवसर का लाभ उठा सकता है । कषाय रूपी अग्नि को शान्त करने के लिए मनोमालिन्य धोने के लिए यह शीतल स्वच्छ जल के समान है । विषय विकारों के निवारण के लिए अमृत के समान है तथा मोह रूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए दैदिप्यमान सूर्य के सदृश्य है । मुमुक्षुओं के लिए चिन्तामणि रत्न एवं कल्पवृक्ष से भी बढकर है ।

शास्त्रीय प्रमाण-

संवत्सरी महापर्व का इतिहास अनादि काल से जुड़ा रहा है । यह अनादिकालीन पर्व है । इस पर्व का सम्बन्ध किसी एक युग से नहीं है । वर्तमान युग में भगवान् महावीर ने इस पर्व की आराधना की । समवायांग सूत्र में लिखा है-

'समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे वइक्कंते। सत्तरिएहिं राइंदिएहिं सेसेहिं वासावासं पज्जोसवेई ।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने वर्षावास के एक माह और बीस दिन व्यतीत होने पर तथा सत्तर दिन शेष रहने पर पर्युषण पर्व अर्थात् सम्वत्सरी पर्व की आराधना की ।

कल्पसूत्र में भी ऐसा ही उल्लेख आता है कि चातुर्मास के पचास दिन व्यतीत होने पर तथा सत्तर दिन शेष रहने पर भगवान् ने सम्वत्सरी पर्व की आराधना की थी ।

इससे स्पष्ट है कि चरम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर ने वही प्ररूपित और आचरित किया जो पूर्व के तीर्थङ्करों ने किया । सभी तीर्थङ्करों की मौलिक प्ररूपणा एक समान होती है । सभी सर्वज्ञों का ज्ञान समान होता है । पूर्व के तीर्थङ्करों के आचारों का प्रतिविम्ब हमें भगवान् महावीर में दृष्टिगत होता है । ये हमारे अन्तिम तीर्थङ्कर हैं इसलिए उनका आचरण और उपदेश हमारे लिए आधारभूत हैं । वैसे हैं वे पूर्व तीर्थङ्करों के समान ही । इसलिए यह पर्व भी अनादिकालीन है ।

सम्वत्सरी की मतभिन्नता का कारण चातुर्मास काल में अधिक मास का आ जाना है । भादवा सुदी पंचमी को ही सम्वत्सरी का आग्रह करने से पचास दिन एवं सत्तर दिन दोनों नियमों के टूटने का प्रसंग वन सकता है । जव आसोज दो होंगे तव भादवा सुदी पंचमी को सम्वत्सरी मनाने पर 100 दिन वचते हैं जवकि पीछे 70 दिन रहना चाहिये । जव सावन मास दो होंगे तो भादवा

सुदी पंचमी को सम्वत्सरी मनाते हैं, जिससे 50वें दिन मनाने का विधान टूट जाता है। ऐसी स्थिति में नीति का वाक्य है कि सारे नियम भंग करने की अपेक्षा आधे सुरक्षित रख लेना बुद्धिमता है। अतः चातुर्मास लगने के पचासवें दिन संवत्सरी मनाना अधिक उपयुक्त है। सम्वत्सरी के मतभेदों को समाप्त करने के लिए समता विभूति आचार्य प्रवर श्री नानालालजी म. सा. ने तो वर्षों पूर्व यह घोषणा कर रखी है कि यदि सारा जैन समाज या श्वेताम्बर समाज एक होकर किसी भी तिथि को संवत्सरी मनाने की घोषणा करे तो मैं अपनी परम्परा की तिथि गौण करके उस तिथि को सम्वत्सरी मनाने को तैयार हूँ। यही नहीं, सम्वत्सरी एकता के लिए आपने सरदारशहर एवं चित्तौड़गढ़ चातुर्मास में अपनी निर्णित तिथि गौण करके सामूहिक तिथियों को महत्व दिया था। यदि सारे आचार्य, मूर्धन्य मुनिराज सम्वत्सरी एकता के लिए अपने पक्ष को छोड़कर कोई भी एक तिथि का निर्णय ले तो वह निर्णय जैन समाज के लिए स्वर्णिम होगा। सम्वत्सरी एकता में किसी के महाव्रतों के पालन में भी कोई दोष नहीं है। अतः मंचस्थ एकता के पहले सम्वत्सरी एकता आवश्यक है।

आराधना पर्व–

आज का दिवस शान्ति का पर्व है, साधना का पर्व है। आज का दिवस चतुर्विद संघ - साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका के लिए आराधना करने का है। प्रत्येक साधु एवं साध्वी को वर्ष भर में ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र में लगे दोषों की आलोचना करना तथा समस्त प्राणियों से क्षमायाचना करना आवश्यक है। जो ऐसा नहीं करता उसे प्रायश्चित आता है। श्रावक एवं श्राविकाओं के लिए भी आज पापों की आलोचना एवं क्षमायाचना आवश्यक है। इस पर्व की आराधना अन्तरमन से होनी चाहिये। अन्तरमन से आलोचना करेंगे, क्षमायाचना करेंगे तो, वास्तविक शान्ति का अनुभव होगा। कवि कहता है-

शास्त्रीय प्रमाण–

संवत्सरी महापर्व का इतिहास अनादि काल से जुड़ा रहा है । यह अनादिकालीन पर्व है । इस पर्व का सम्बन्ध किसी एक युग से नहीं है । वर्तमान युग में भगवान् महावीर ने इस पर्व की आराधना की । समवायांग सूत्र में लिखा है-

'समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे वइक्कंते। सत्तरिएहिं राइंदिएहिं सेसेहिं वासावासं पज्जोसवेई ।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने वर्षावास के एक माह और वीस दिन व्यतीत होने पर तथा सत्तर दिन शेष रहने पर पर्युषण पर्व अर्थात् सम्वत्सरी पर्व की आराधना की ।

कल्पसूत्र में भी ऐसा ही उल्लेख आता है कि चातुर्मास के पचास दिन व्यतीत होने पर तथा सत्तर दिन शेष रहने पर भगवान् ने सम्वत्सरी पर्व की आराधना की थी ।

इससे स्पष्ट है कि चरम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर ने वही प्ररूपित और आचरित किया जो पूर्व के तीर्थङ्करों ने किया । सभी तीर्थङ्करों की मौलिक प्ररूपणा एक समान होती है । सभी सर्वज्ञों का ज्ञान समान होता है । पूर्व के तीर्थङ्करों के आचारों का प्रतिबिम्ब हमें भगवान् महावीर में दृष्टिगत होता है । ये हमारे अन्तिम तीर्थङ्कर हैं इसलिए उनका आचरण और उपदेश हमारे लिए आधारभूत हैं । वैसे हैं वे पूर्व तीर्थङ्करों के समान ही । इसलिए यह पर्व भी अनादिकालीन है ।

सम्वत्सरी की मतभिन्नता का कारण चातुर्मास काल में अधिक मास का आ जाना है । भादवा सुदी पंचमी को ही सम्वत्सरी का आग्रह करने से पचास दिन एवं सत्तर दिन दोनों नियमों के टूटने का प्रसंग बन सकता है । जब आसोज दो होंगे तब भादवा सुदी पंचमी को सम्वत्सरी मनाने पर 100 दिन बचते हैं जबकि पीछे 70 दिन रहना चाहिये । जब सावन मास दो होंगे तो भादवा

से सभी को क्षमा प्रदान भी करता है, सभी जीवों से मित्रता रखता है । 'मेरी भावना' नामक कविता में कवि कहता है-

मैत्री भाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे ।
दीन दु:खी जीवों पर मेरे, उर से करूणा स्त्रोत बहे ॥

आत्मवत् सभी जीवों को समझने का यह सिद्धान्त पवित्र और कल्याणी है । क्षमा मांगना और क्षमा करना वीरों का काम है । कहा है- 'क्षमा वीरस्य भूषणं' ।

महर्षि वेद व्यास ने कहा है-

'संसार में दो प्रकार के व्यक्ति स्वर्ग के ऊपर भी स्थित होते हैं - एक तो वे जो दरिद्र होकर भी कुछ दान करते हैं, और दूसरे वे जो शक्तिशाली होकर भी क्षमा करते हैं । क्षमा प्रदान करना साधारण बात नहीं है ।

कुलपुत्र एक क्षत्रिय था । बाल्यावस्था में ही उसके पिता की किसी शत्रु ने हत्या कर दी थी । विधवा माता ने उसे बड़ी कठिनाई से बड़ा किया । यौवन अवस्था में एक बार कुलपुत्र ने युद्ध में विशेष वीरता दिखाई जिससे राजा ने उसे सम्मानित किया एवं सेना में उच्च पद प्रदान किया ।

कुल पुत्र से उल्लास घर आया और अपनी माता के पास इस आशा से गया कि माँ इस घटना को सुनकर हर्षित होगी । परन्तु उसने पाया कि माँ उदास है तथा अश्रुपात कर रही है । माँ की यह दशा देखकर कुलपुत्र माँ के चरणों में गिर गया और विनम्र शब्दों में दु:ख का कारण पूछा । माँ ने रोते हुए कहा- 'बेटा, तूने संग्राम में शत्रुओं को तो परास्त कर दिया परन्तु जब तक तेरे पिता का हत्यारा जीवित है तब तक मेरी आत्मा को शान्ति कैसे मिल सकती है ? तेरी वीरता और पद का क्या लाभ ?'

पुत्र ने पूछा- 'माँ, जल्दी बताओ मेरे पिता का हत्यारा कौन है ? मैं उसे जीवित या मृत पकड़ कर तेरे पास लाऊँगा । माँ जल्दी करो ।'

यह विषय कषाय घटाने, यह आतम गुण विकसाने ।
जिनवाणी का बल लाया है रे ॥ यह पर्व...

आज अधिकांश व्यक्तियों के उपवास है, यह इस पर्व की विशेषता है । अन्य पर्वों पर आमोद-प्रमोद, राग-रंग एवं भोग विलास की प्रमुखता रहती है परन्तु इस पर्व पर इन सबसे मुँह मोड़ा जाता है । आज का पर्व त्याग प्रधान है जो छोटे बालक अन्य पर्वों पर या सामान्य दिनों में खान-पान की वस्तुओं के लिए झगड़ते हैं, वे ही आज उपवास के लिए लालायित हैं । तात्पर्य यह है कि आज का दिवस शरीर लक्ष्यी, नहीं आत्म लक्ष्यी है, लौकिक नहीं लोकोत्तर है, भौतिक नहीं आध्यात्मिक है । कवि कहता है-

सर्व पर्वों का ताज, पुण्य दिन आज संवत्सरी आई ।
सब जन लो हर्ष मनाई ॥
चौरासी लाख जीव योनि से, जो वैर किया मन, वच, तन से ।
भूलो वह और लो, मैत्री भाव बसाई ।
हाँ आज सम्वत्सरी आई...
जो खमता और खमाता है, वह प्राणी आराधक बन जाता है ।
आराधक की होती है गति सुखदायी ।
हाँ आज सम्वत्सरी आई....

इसलिए हम सब मिलकर इस महान् पर्व की आराधना करें । आज के दिन सभी जीवों से क्षमायाचना करें ।

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ति में सव्वभूएसु, वेरं मज्जं ण केणई ॥

मैं संसार के समस्त प्राणियों से क्षमा चाहता हूँ और सभी जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ । सभी जीवों से मेरा मैत्री भाव हैं, किसी से भी वैर भाव नहीं है ।

कैसा महान आदर्श है, कैसा विशिष्ट सिद्धान्त है ? साधक अपनी त्रुटियों के लिए स्वयं क्षमायाचना करता है तथा अपनी ओर

से सभी को क्षमा प्रदान भी करता है, सभी जीवों से मित्रता रखता है । 'मेरी भावना' नामक कविता में कवि कहता है-

मैत्री भाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे ।
दीन दु:खी जीवों पर मेरे, उर से करूणा स्त्रोत बहे ॥

आत्मवत् सभी जीवों को समझने का यह सिद्धान्त पवित्र और कल्याणी है । क्षमा मांगना और क्षमा करना वीरों का काम है । कहा है- 'क्षमा वीरस्य भूषणं' ।

महर्षि वेद व्यास ने कहा है-

'संसार में दो प्रकार के व्यक्ति स्वर्ग के ऊपर भी स्थित होते हैं - एक तो वे जो दरिद्र होकर भी कुछ दान करते हैं, और दूसरे वे जो शक्तिशाली होकर भी क्षमा करते हैं । क्षमा प्रदान करना साधारण बात नहीं है ।

कुलपुत्र एक क्षत्रिय था । बाल्यावस्था में ही उसके पिता की किसी शत्रु ने हत्या कर दी थी । विधवा माता ने उसे बड़ी कठिनाई से बड़ा किया । यौवन अवस्था में एक बार कुलपुत्र ने युद्ध में विशेष वीरता दिखाई जिससे राजा ने उसे सम्मानित किया एवं सेना में उच्च पद प्रदान किया ।

कुल पुत्र से उल्लास घर आया और अपनी माता के पास इस आशा से गया कि माँ इस घटना को सुनकर हर्षित होगी । परन्तु उसने पाया कि माँ उदास है तथा अश्रुपात कर रही है । माँ की यह दशा देखकर कुलपुत्र माँ के चरणों में गिर गया और विनम्र शब्दों में दु:ख का कारण पूछा । माँ ने रोते हुए कहा- 'बेटा, तूने संग्राम में शत्रुओं को तो परास्त कर दिया परन्तु जब तक तेरे पिता का हत्यारा जीवित है तब तक मेरी आत्मा को शान्ति कैसे मिल सकती है ? तेरी वीरता और पद का क्या लाभ ?'

पुत्र ने पूछा- 'माँ, जल्दी बताओ मेरे पिता का हत्यारा कौन है ? मैं उसे जीवित या मृत पकड़ कर तेरे पास लाऊँगा । माँ जल्दी करो ।'

माँ ने पिता के हत्यारे का परिचय दिया । पुत्र ने भीष्म प्रतिज्ञा की 'पिता के हत्यारे को जीवित या मृत लेकर ही घर में प्रवेश करूँगा ।'

वात विजली की तरह शहर में फैल गई । पिता का हत्यारा भी भयभीत हो गया । कुलपुत्र तलवार लेकर घर से निकल गया । उसके पिता का हत्यारा भी क्षत्रिय था । परन्तु अव कुछ उम्र भी ढ़ल रही थी तथा कुलपुत्र के समान शक्तिशाली नहीं था । इसलिए प्राण वचाने के लिए छिप कर जंगल में चला गया । कुलपुत्र अपने पिता के हत्यारे को जीवित पकड़ने में सफल हुआ । शत्रु को बन्धक वनाकर वारह वर्ष वाद कुलपुत्र अपने घर आया । माँ के चरणों में पिता के हत्यारे को डालते हुए कुलपुत्र ने पूछा कि माँ ! बताओ इसको किस प्रकार का दण्ड दिया जाय ? आज मैं अपने पिता की हत्या का बदला लेना चाहता हूँ ।

माँ ने देखा कि शत्रु उदास है उसकी आँखों में पानी था । माँ भी यह चाहती थी कि अपने पति के हत्यारे को उचित शिक्षा दी जावे, हत्या का बदला लिया जावे । माँ ने शत्रु को ललकारा और पूछा कि बोल अब तेरे साथ कैसा व्यवहार किया जावे ।

शत्रु ने साहस बटोर कर कहा- 'माँ ! मैं भी तेरा पुत्र हूँ । मेरे से अपराध हो गया, मैं क्षमा चाहता हूँ । मेरे भी अपना परिवार है । मेरी मृत्यु से सब दु:खी हो जावेंगे । मेरी माँ रो-रोकर प्राण त्याग देगी । तुम मुझे अभयदान प्रदान करो । मुझे अपने कुकृत्य पर वास्तव में पश्चाताप है ।' यह कहते-कहते उसकी आँखों में अश्रु बह चले ।

कुलपुत्र ने ललकार कर कहा- अरे हत्यारे ! मेरे पिता को मारते समये तुझे ये बातें याद नहीं आई । अब अपनी मृत्यु देखकर घबराता है ।

माँ का हृदय तो मातृभाव से परिपूर्ण था । उसका मातृत्व

जागृत हो गया । उसने सोचा- 'जिस प्रकार मेरे पति के मरने पर बड़ी दुर्दशा हुई, जीवन दूभर हो गया, कष्टों का अम्बार आ गया, उसी प्रकार इसके परिवर की भी दुर्दशा होगी । फिर, वैर से वैर नष्ट नहीं होता वरन् बढ़ता है ।

चिन्तन के बाद माँ ने अपने पुत्र से कहा कि इसे मुक्त कर दो, यह तुम्हारा बड़ा भाई है । मैं भोजन बनाती हूँ और तुम दोनों साथ में भोजन करो ।' पुत्र हैरान था । उसने कहा- 'माँ ! क्या कह रही हो ? यह पिता का हत्यारा है । फिर मैंने तुम्हारे आदेश से बीहड़ वनों में पूरे बारह वर्ष गुजारे हैं । विचार करो, कितने कष्टों के बाद मैंने इसे पाया है ।'

'बेटा ! अब यह पिता का हत्यारा नहीं मेरा पुत्र है । मुझे प्रसन्नता है कि बारह वर्ष के बाद भी मुझे एक के स्थान पर दो पुत्र मिले है । तू वीर है, और वीरता इसे मारने में नहीं क्षमा प्रदान करने में है ।'

'माँ यह म्यान से निकली तलवार प्रतीक्षा कर रही है, शीघ्र आदेश दो ।'

'बेटा मेरा आदेश है कि इस तलवार से तुम्हारे इस भ्राता के बन्धन काट दो । बदला लेने की अपेक्षा क्षमा महान् है । क्षमा मानवीयता का लक्षण है ।

Forgiveness is better than revenge, forgiveness is the sign of gentle nature.

किसी कवि ने कहा है-

जो ताको काँटा बुए, ताहि बोय तू फूल ।

कुलपुत्र आज्ञाकारी था । शीघ्र शत्रु को बन्धन मुक्त कर दिया । शत्रु माँ के चरणों में लौटने लगा । प्रेम की गंगा बह चली। माँ ने भोजन बनाया और प्रेम से दोनों को खिलाया । दोनों शत्रु आज गले मिल गए ।

यह है आज के दिवस का महत्व, सम्वत्सरी मनाने का सार । कवि कहता है-

धन्य धन्य है दिवस आज का, सुनो सभी इन्सान,
सम्वत्सरी आया पर्व महान् ।
राग-द्वेष को त्याग के सारे, गाओ प्रभु के गान ।
सम्वत्सरी आया पर्व महान् ।
गुरु चरणों में सारे आके, विनय से अपना शीश झुकाके ।
रगड़े-झगड़े सभी मिटाके, अपने दिल को साफ बनाके ।
प्राणीमात्र से मिलकर सारे, माँगो क्षमा का दान ।
सम्वत्सरी आया पर्व महान् ।
यही पर्व उद्धार करेगा, नवजीवन संचार करेगा ।
जो जन इसको पार करेगा, उसके सब संताप हरेगा ।
इसी पर्व से मिलेगा तुझको, मुक्ति का वरदान ।
सम्वत्सरी आया पर्व महान् ।

कभी आप से भी पूछ लिया जाय कि क्या आप भी ऐसा पर्व मनाना चाहते हैं ? कुलपुत्र की माँ की तरह या केवल पर्व का प्रदर्शन करना चाहते हैं ? क्षमापना पर्व आप भी प्रतिवर्ष मनाते हैं लेकिन आज यह समझना है कि क्षमायाचना किससे की जावे ? क्षमायाचना पर्व को परिपाटी और औपचारिकता के रूप में मनाने से वास्तविक लाभ नहीं होगा । इसे सच्चे क्षमापना पर्व के रूप में मनावें ।

यदि क्षमायाचना करनी है तो उन व्यक्तियों से अवश्य करें जिनसे आपका कभी झगड़ा हो गया है, लड़ाई हो गई, वैर-विरोध हो गया है । मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि आप अन्य व्यक्तियों से क्षमायाचना न करें । आज के इस प्रसंग पर हम सभी व्यक्तियों से और सभी जीवों से क्षमा याचना करें । लेकिन उनसे क्षमायाचना करना अत्यन्त आवश्यक है, जिनसे हमारा झगड़ा हुआ है । आज सामान्यतया होता यह है कि हम क्षमायाचना उनसे करते हैं जिनसे

कभी झगड़ा हुआ भी नहीं और जो सम्बन्धी हैं, प्रियजन हैं। यद्यपि प्रियजनों से भी क्षमायाचना करना बुरा नहीं है क्योंकि कभी मन में उनके प्रति भी जाने-अनजाने में अशुभ विचार उत्पन्न हो गए हों। लेकिन जिनसे वैर-विरोध है, वास्तव में उनसे क्षमा माँगना आवश्यक है। उनसे तो क्षमा नहीं माँगी जाती है और अन्य से क्षमा माँगी जाती है। यह उचित नहीं है, केवल औपचारिकता है। यदि हम अन्तःकरण से सम्वत्सरी मनाना चाहते हैं तो सर्वप्रथम उनसे जाकर क्षमा मांगी जाय, जिनसे विरोध है, कभी छोटा-मोटा विवाद हो गया है। जो क्षमायाचना करने में पहल करता है वह छोटा नहीं, बड़ा है, महान् है। विशाल हृदय वाला ही क्षमा मांग सकता है और क्षमा प्रदान कर सकता है। कवि कहता है-

यह वैर-विरोध विसार, अरे सबसे खमाले रे।
अरे दिल से खमाले रे ।
है आज बड़ा त्यौहार, करले भाई-भाई से प्यार,
अरे सबसे खमाले रे, अरे दिल से....

यह सुअवसर आया है वैर-विरोध मिटाने का अन्तःकरण को शुद्ध बनाने का। इस अवसर पर हम पूर्व के झगड़ों को समाप्त कर सकते हैं। यदि अवसर खो दिया तो वर्ष भर तक वापस ऐसा सुयोग नहीं मिलेगा। इसलिए अवसर का लाभ उठालें। परिवार में जिन सदस्यों को वर्ष भर में कष्ट पहुँचाया है, चाहे वे छोटे ही क्यों न हों, उनसे भी क्षमायाचना आवश्यक है। इसी प्रकार समाज, राज्य या देश के सभी व्यक्तियों से, समस्त प्राणियों से वैर-विरोध दूर कर मैत्री भाव स्थापित करें, भातृत्व भाव जागृत करें।

क्षमा के अवतार भगवान् महावीर

हम महावीर के अनुयायी हैं। अतः विचार करें कि हमारे पूर्वज कैसे क्षमाशील थे। भगवान् महावीर के पैरों में खीर पकाई गई, कानों में कीले ठोके गये, चण्डकौशिक ने हलाहल विष उगला,

संगम ने एक ही रात्रि में भयंकर कष्ट पहुँचाये, पर वे क्षमावीर अडोल और अकम्पित रहे, क्रोध नहीं किया वरन् विष उगलने वाले को भी अमृत सम उपदेश दिया । क्या हमने उनकी क्षमा का चिन्तन किया है ?

गजसुकमाल मुनि-

मुनि गजसुकमाल के मस्तक पर धधकते अंगारे रखे गये, पर समता और शान्ति की प्रतिमूर्ति ने क्षमा का सागर लहरा दिया । कैसी अपार क्षमता थी उनमें ? यदि गजसुकमाल मुनि सोमल ब्राह्मण की ओर दृष्टिपात करते तो सम्भव है सोमिल के प्राण पखेरू उड़ जाते, जैसा कि दूसरे दिन श्रीकृष्ण को देखकर हुआ । लेकिन समता के अवतार गजसुकमाल मुनि ने क्षमा धारण की एवं शाश्वत सुख को प्राप्त किया ।

अर्जुनमाली अणगार-

पर्युषण के दिनों में हम अन्तगड़ सूत्र निरन्तर सुन रहे हैं । अर्जुनमाली अणगार का वृतान्त भी सुना । सात प्राणियों को प्रतिदिन मौत के घाट उतारने वाला अर्जुन भगवान् महावीर के पास अणगार बन जाता है और उसी राजगृही नगरी में भिक्षा के लिए घर-घर में गोचरी हेतु जाता है । गोचरी में क्या मिला अर्जुन अणगार को ? पत्थरों की मार, लाठियों की बौछार, गालियों का अम्बार । फिर भी अर्जुन अणगार शान्त थे । क्षमा को धारण किया और अल्पकाल में ही कर्मों को नष्ट कर सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो गये ।

क्षमा मानवीय गुण-

मैतार्य मुनि ने भी प्राणों का उत्सर्ग कर कुक्कुट की रक्षा की, भीषण कष्टों को सहन किया परन्तु स्वर्णकार को एक शब्द भी नहीं कहा । धन्य है ऐसे क्षमा के अवतार । जैन साहित्य क्षमा मूर्तियों से भरा पड़ा है । उन सबका वर्णन यहाँ करना संभव नहीं है । हम उन्हीं महापुरुषों के अनुयायी हैं । लेकिन आज इस अवसर

पर चिन्तन यह करना है कि हमने क्षमा के स्वरूप को समझा या नहीं ? उपयुक्त अवसर आने पर तो प्रकृति भी अपना कार्य करती है । वसन्त आने पर वृक्षों में नई बहार आ जाती है, वर्षा के आगमन पर गगन में मेघ गरजने लगते हैं, संसार को शीतल जल प्रदान करते हैं । फिर संवत्सरी के पावन प्रसंग पर यदि मानव हृदय में क्षमा का स्रोत नहीं बहा तो फिर जैन तो क्या मानव कहलाने के भी अधिकारी नहीं ? आम्र में मंजरिया आने पर यदि कोयल मधुर गान नहीं सुनाती तो वह कोयल नहीं काग होगा । सावन के सुनहरे मौसम में यदि मेघ गरजने पर मोर नाचता नहीं तो वह मोर नहीं कुछ और होगा और यदि सम्वत्सरी के इस महान पर्व पर मानव का हृदय प्रेम, करूणा, वात्सल्य और मैत्री से परिपूरित नहीं होता तो मानव श्रावक कहलाने का अधिकारी कैसे हो सकते हैं । सरल हृदय वाले ही क्षमा मांग सकते हैं या क्षमा प्रदान कर सकते हैं ।

नमे आम्बा आमली, नमे दाड़म दाख ।
एरण्ड बिचारा क्या नमे, जिसकी ओछी जात ॥

झुकना बड़प्पन का लक्षण है और अकड़ना ओछेपन का सूचक है । आम रसदार फल देता है, गहरी छाया देता है, शीतल पवन बहाता है फिर भी उसकी शाखाएँ धरती की ओर झुकी रहती हैं । फल आने पर अधिक झुक जाती है । हमारे झुकाने पर भी झुक जाती है । मगर एरण्ड का पेड़ अकड़ कर खड़ा ही रहता है, यहाँ तक कि झुकाने पर टूट जाता है । संसार भी आम को पसन्द करता है, एरण्ड को नहीं । अब हम विचार करें कि हमको क्या बनना है-आम या एरण्ड ? जन-जन का प्रिय बनने के लिए क्रोध का त्याग कर विनय को जीवन में अपनाना पड़ता है ।

कौशाम्बी नरेश महाराजा उदायन भगवान् महावीर के श्रावक थे । उज्जयनी के महाराजा चण्डप्रद्योत ने छल द्वारा महाराजा उदायन की दासी स्वर्णगुलिका को चुरा ली । महाराजा उदायन यद्यपि श्रावक थे, फिर भी राज्योचित व्यवहार आवश्यक समझकर

चण्डप्रद्योत पर आक्रमण कर, उसे बन्दी बना लिया । चण्ड को लेकर महाराजा उदायन अपने राज्य में आ रहे थे कि पर्युषण पर्व का पावन प्रसंग उपस्थित हो गया । आठों दिन एक ही स्थान पर व्यतीत करने के विचार से दशपुर (वर्तमान में मन्दसौर) नामक स्थान पर पड़ाव डाला गया । यहीं पर आठों दिन की आराधना की और अन्त में संवत्सरी पर्व आ गया । महाराजा उदायन ने उपवास युक्त पौषध किया । उदायन के आदेश से चण्डप्रद्योत को पूछा गया कि वे क्या भोजन करना चाहेंगे ?

चण्डप्रद्योत को सन्देह हुआ कि आज भोजन के लिए उसकी इच्छा क्यों पूछी गई । सेवकों ने बताया कि सम्वत्सरी महापर्व होने से महाराजा पौषध उपवास करेंगे इसलिए उनके लिए भोजन नहीं बनेगा ।

चण्डप्रद्योत ने सोचा कि कहीं विषयुक्त भोजन न खिला दिया जावे । क्योंकि प्रतिदिन तो दोनों राजाओं के लिए एक-सा भोजन बनता है और आज केवल उसके लिए भोजन बनायेंगे । इसलिए चण्ड ने उपवास करने का निश्चय कर कहा- आज मैं भी उपवास करूँगा । मेरे भी पूर्वज जैनधर्म के अनुयायी थे ।

सांयकालीन सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करके महाराजा उदायन चण्डप्रद्योत के पास गये और उनसे क्षमायाचना की । चण्डप्रद्योत ने समझ लिया कि यह अच्छा अवसर है मुक्त होने का । उसने महाराजा उदायन से हँस कर कहा- 'महाराज ! क्यों क्षमा याचना का आडम्बर करते हैं ? नाटकीय क्षमायाचना करने से क्या लाभ है ?'

महाराजा उदायन ने कहा- 'मैं आपको अपना सहधर्मी बन्धु मानकर अन्तःकरण से क्षमायाचना कर रहा हूँ ।'

चण्डप्रद्योत ने कहा- राजन ! मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि यह कैसी क्षमायाचना है ? मैं आपका बन्दी हूँ तथा मेरे सिर पर भी 'ममदासीपति' शब्द लिख रखे हैं और मुझसे क्षमायाचना कर रहे

हैं । यह तो इस पर्व की हँसी उड़ाना है । आप वास्तव में क्षमायाचना करना चाहते हैं, सम्वत्सरी मनाना चाहते हैं तो पहले मुझे मुक्त करें। बन्दी अवस्था में मैं आपको कैसे क्षमा कर सकता हूँ ?

महाराजा उदायन ने चिन्तन किया, आत्म निरीक्षण किया तो उन्हें चण्ड की बात में सत्यता लक्षित हुई । उन्होंने कहा- अभी तो धार्मिक अनुष्ठान पौषध में हूँ इसलिए सांसारिक कार्य नहीं किया जा सकता है । उदायन महाराजा के वचनों पर श्रद्धा करता हुआ चण्डप्रद्योत अपनी गलती महसूस कर क्षमायाचना करता है ।

दोनों ने अन्तःकरण से एक दूसरे से क्षमायाचना की एवं क्षमा प्रदान की । शत्रु भी मित्र बन गया । महाराजा उदायन दूसरे दिन पौषध पालने के पश्चात् चण्ड को क्षमा करने के साथ राज्योचित सम्मान के साथ उसे अपनी राजधानी ले गया और अपनी पुत्री के साथ उनकी शादी कर दी तथा दहेज में स्वर्णगुलिका नामक दासी को भी दे दिया ।

यह क्षमा का एक उच्च आदर्श है । क्या हम भी ऐसी सम्वत्सरी मनाते हैं ? क्या हम भी शत्रुओं से क्षमायाचना करते हैं? वैर को नष्ट करने के लिए नम्रता आवश्यक है, शत्रुता मिटाने के लिए क्षमा आवश्यक है । टूटकर पुनः वही मिल सकता है जिसमें नम्रता है ।

सोना, चाँदी, सुघड़ नर, टूटे जुड़े सौ बार ।
फूटी हांडी कुम्हार की, जुड़े न दूजी बार ॥

जिस प्रकार सोना, चाँदी जैसे पिघलने वाले नम्र एवं मूल्यवान पदार्थ टूटकर पुनः मिल सकते हैं कुम्भकार की कठोर हंडिया फूटने के बाद मिलती नहीं है । हमने भी उच्च कुल में जन्म लिया है, उत्तम जैन धर्म प्राप्त किया, इसलिए हमारे हृदय में भी प्रेम, करूणा, सहृदयता क्षमा का स्रोत बहना चाहिये । उत्तम गुण सामान्य व्यक्ति

में नहीं पाये जा सकते । उत्तम वस्तु उत्तम पात्र में ही टिक सकती है । सिंहनी का दूध स्वर्ण पात्र में ही टिक सकता है ।

यदि हम आज के पावन पवित्र अवसर पर भी अन्त:करण से क्षमा प्रदान नहीं कर सकते या क्षमायाचना नहीं कर सकते तो फिर हमारा सम्यक्त्व गुण किस प्रकार सुरक्षित रह सकता है ? इसलिए आज के इस सुअवसर पर आत्मनिरीक्षण करें, वैर विरोध निवारें, पापों की आलोयणा करें एवं प्रायश्चित द्वारा अपनी आत्मा को परिमार्जित कर सच्चे जैन बनें ।

यह पावन प्रसंग वर्ष में एक ही वार आता है । संवत्सर का अर्थ है एक वर्ष, और यह पर्व वर्ष में एक वार ही मनाया जाता है । आज के दिन कषायों को शान्त करें । अनन्तानुबन्धी कषाय की उपस्थिति में सम्यक्त्व भी नहीं रहता । इसलिए हम भी सच्चे हृदय से क्षमा पर्व मनावें, पर्व को सार्थक करें एवं सम्यक्त्व की रक्षा करें।

कवि भी प्रार्थना की कड़ियों में यही कहता है कि-

कितना त्याग सका पर-निन्दा, कितना अपना अन्तर देखा ।
कितना रख पाया हूँ अब तक, अपने पाप-पुण्य का लेखा ॥

कृत्स्नकर्म क्षयो मोक्षः ।

(तत्वार्थ सूत्र 10/3)

सम्पूर्ण कर्मों का सर्वथा क्षय होना ही मोक्ष है ।

क्षान्ति तुल्यं तपो नास्ति ।

क्षमा के समान दूसरा तप नहीं है ।

भावना–भव नाशिनि

मोक्षमार्ग में भावना का विशेष महत्व है। भावना ही कर्म-बन्ध का कारण है और भावना ही मुक्ति का साधन है । विशुद्ध भावों से निर्वाण प्राप्त होता है और अशुभ भावों से संसार परिभ्रमण बढता है ।

भावना का सम्बन्ध मन से है । मन अत्यन्त चंचल है । इस पर नियन्त्रण करना दुष्कर है । मन पर विजय प्राप्त करने वाला महान होता है, जगत विजयी होता है । दुर्गति से बचने के लिए मन पर नियन्त्रण आवश्यक है । भावना के अनुरूप ही फल होता है ।

धर्म जिनेश्वर मुझ हिवड़े बसो, प्यारो प्राण समान ।
कबहूँ न विसरूँ हो चितारूँ,
सदा अखण्डित ध्यान ॥ धर्म......
ज्युं पनिहारी कुम्भ न विसरे, नटवो नृत्य निदान ।
पलक न विसरे हो पद्मिनी पिय भणी,
चकवी न विसरे हो भान ॥ धर्म......

पन्द्रहवें तीर्थंकर प्रभु धर्मनाथ भगवान की प्रार्थना की कड़ियों का उच्चारण किया गया । कवि विनयचन्दजी की प्रार्थनाएँ बहुत भक्ति-भाव से परिपूर्ण हैं । कवि भगवान को अपने हृदय में स्थापित करना चाहता है । कवि विनयचन्द जी कहते हैं कि हे प्रभु ! आप मेरे प्यारे प्राणों के समान मेरे हृदय में बसो । भक्त भगवान को अपने प्राणों से भी अधिक चाहता है । कवि कहता है कि हे प्रभु ! मुझे अखण्डित रूप से सदैव आपका ही ध्यान रहे तथा मैं कभी भी आपको नहीं भूलूँ । भक्त प्रभु-भक्ति में पूर्ण तल्लीन होना चाहता है । प्रभु के प्रति भक्त की भक्ति कैसी हो, इसके लिए उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है कि जिस प्रकार पनिहारी मस्तक पर दो-तीन घड़े रखकर साथिन पनिहारी से बातें करती हुई, हँसी-मजाक करती हुई पनघट से अपने घर आती है, लेकिन वह कभी अपने घड़े को भूलती नहीं है । नट, बांस पर विभिन्न प्रकार के नाच करता है, करतब दिखाता है, परन्तु बांस को नहीं भूलता । प्रेमिका अपने प्रियतम को एक क्षण के लिए भी नहीं भूलती, चकवी चन्द्रमा को नहीं भूलती । कवि कहता है कि हे प्रभु ! मेरी भक्ति भी ऐसी हो कि मैं कभी भी आपको नहीं भूलूँ ।

भगवान की भक्ति शुद्ध भावों से हो, अन्तःकरण से हो, मन की एकाग्रता से हो, तो ही लाभदायक है । केवल प्रदर्शन के लिए की गई भक्ति लाभदायक नहीं है । कवि ने कहा है-

माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख माहीं ।
मनुआ तो दस दिस फिरे, यह तो सुमिरन नाहीं ॥

प्रभु-भक्ति में भी भावना तत्त्व प्रधान है । भावना के अभाव में की गई भक्ति सारहीन है ।

मोक्ष-मार्ग का प्रमुख साधन-भाव-

मोक्ष-मार्ग के चार साधन- दान, शील, तप एवं भाव कहे गए हैं । इनमें भाव का प्रमुख स्थान है । दान शील एवं तप की आराधना भाव पर आधारित है । आत्मा में समय समय पर उत्पन्न होने वाले विचारों को भाव कहा जाता है । ये अच्छे एवं बुरे दोनों प्रकार के हो सकते हैं । दान, शील एवं तप के भाव उत्कृष्ठ हैं । आत्मा में ऐसे उत्कृष्ठ भावों का आना ही श्रेयस्कर है । पहले भावों का निर्माण होगा तब ही उन पर आचरण सम्भव है । इसीलिए कहा गया है-

'भाव विसोहिए निव्वाण चाभिगच्छहू'

अर्थात् शुद्ध भावों से निर्वाण प्राप्त होता है ।

निःसंदेह शुभ भावों से संसार परित होता है तो अशुभ भावों से संसार विस्तृत होता है । भावों के महत्व को समझने के लिए कहा है-

'परिणामे बंधो परिणामे मोक्खो'

अर्थात् भाव ही कर्म-बंध के कारण हैं और भाव ही मुक्ति दाता हैं ।

मनोविजेता जगतो विजेता-

मन विचारों का केन्द्र बिन्दु है । मन पर नियंत्रण करना अत्यंत दुष्कर है । मन की चंचलता के लिए कवि कहता है-

मन तोहे किस विध मैं समझाऊँ ।
घोड़ा होय तो लगाम लगाऊँ, उपर जीन कसाऊँ ।
होय सवार तेरे पर बैठूँ, चाबुक देय चलाऊँ ॥ मन....
हाथी होय तो जंजीर मँगाऊँ, चारों पैर बँधवाऊँ ।
होय महावत तेरे गल बैठूँ, अंकुश देय चलाऊँ ॥ मन...

ज्ञानी होय तो ज्ञान सिखाऊँ, सत्य की राह चलाऊँ ।
कहत कबीरा सुन भाई साधौ, अमरापुर पहुँचाऊँ ॥ मन.

मन, वचन एवं काया को योग कहते हैं । जिसमें मन सबसे अधिक प्रबल योग है । अनियन्त्रित मनःयोग विनाश का कारण है । इसलिए ज्ञानी जन मन को आत्मा के नियंत्रण में रखकर उसे सन्मार्ग में लाते हैं । 'मनो विजेता जगतो विजेता' अर्थात् मन को विजय करने वाला सर्व विजेता होता है । वचन एवं काया की प्रवृत्तियां मन पर आधारित हैं । कई दुष्कर कार्य जो वचन एवं काया द्वारा सम्भव नहीं होते हैं उन्हें मन अपने विचारों द्वारा पूर्ण कर लेता है । इसलिए मन पर नियन्त्रण अत्यन्त आवश्यक है ।

'मन एव मनुषाणां कारणं बंध मोक्षयोः'

अर्थात् मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण है । इस सन्दर्भ में पोतनपुर के महाराजा राजर्षि प्रसन्नचन्द्र का दृष्टान्त दृष्टव्य है । राजकाज से पूर्ण निवृत्त होकर राजर्षि प्रसन्नचन्द्र एकान्त साधना में लग गये । मगधेश महाराजा श्रेणिक अपनी चतुरङ्गिणी सेना सहित श्रमण भगवान महावीर के दर्शनार्थ उस मार्ग से गुजरे जहाँ से कुछ ही दूर पर राजर्षि अपनी तप साधना में तल्लीन थे । राजर्षि ने कठोर साधना अङ्गीकार की थी । तप के कारण उनका शरीर दुर्बल हो चुका था । फिर भी मुखमण्डल देदिप्यमान था । महाराजा श्रेणिक की पैदल सेना के दो सैनिक कुछ वार्तालाप करते हुए आगे चल रहे थे । एक सैनिक की दृष्टि साधनारत राजर्षि पर पड़ी । उसने अपने साथी सैनिक से कहा कि धन्य हैं वे राजर्षि प्रसन्नचन्द्र जो राजपाट कुटुम्ब परिवार, धन, ऐश्वर्य आदि सभी त्याग कर कठोर साधना में लीन हो गए । इन्हें बारम्बार धन्य है । प्रथम सैनिक द्वारा राजर्षि की प्रशंसा सुनकर दूसरे सैनिक ने तपाक से कहा- 'अरे यह राजर्षि तो कायर है, अपने अवयस्क पुत्र पर राज्य का कार्य भार डालकर साधु बन बैठा है । इसे यह भी भान नहीं कि इसके राज्य पर शीघ्र आक्रमण होने

वाला है । आक्रामक राजा पोतनपुर को तहस-नहस कर देगा, इसके पुत्र को बन्दी बना देगा, उसके राज्य को अपने राज्य में मिला लेगा, इसके राज्य पर आक्रामक राजा की ध्वजा-पताका फहरायेगी ।'

इस प्रकार तिरस्कार पूर्ण शब्द राजर्षि के कर्ण-पटल पर जा टकराये । दूसरे सैनिक के अपयश पूर्ण शब्दों ने राजर्षि को झकजोर दिया । साधना में तल्लीन मानस पर शब्द बाणों की करारी चोट हुई । मन विचलित हो गया । विचारों ने मोड़ लिया । राजर्षि यश-अपयश की लहरों में गोते लगाने लगे । विचार आया- कौन है जो मेरे होते हुए मेरे राज्य पर आँख उठाकर देख सके ? मेरे राज्य पर आक्रमण! मेरे पुत्र को बन्दी बनाना । मेरे राज्य पर अन्य राजा का शासन ! नहीं-नहीं, ऐसा मैं कभी नहीं होने दूँगा । खून की नदियाँ बहा दूँगा । क्या आक्रामक मेरे पराक्रम से अनभिज्ञ है ? इस प्रकार राजर्षि के मन में विचारों का उथल-पुथल होने लगा । विचारों की धारा आगे प्रवाहित होती रही । धर्म ध्यान, रोद्र-ध्यान में परिवर्तित हो गया । महाराजा श्रेणिक की चतुरङ्गिणी सेना भगवान् महावीर के समवसरण के समीप पहुँच चुकी थी । इधर राजर्षि विचार प्रवाह से नरक के द्वार खटखटाने लगे । राजर्षि ने विचारों में रणभेरी बजवा दी, भीषण संग्राम होने लगा, शत्रु सैनिक धराशायी होने लगे । हिंसा का ताण्डव नृत्य उपस्थित हो गया ।

उधर महाराजा श्रेणिक चरण वन्दन हेतु प्रभु के समक्ष पहुँच गये । विधियुक्त वन्दन किया । मार्ग में साधना में तल्लीन राजर्षि को देखा था एवं उनकी साधना से अत्यन्त प्रभावित हुए थे । इसलिए जिज्ञासावश प्रभु महावीर से प्रश्न किया- 'हे भगवन् ! यदि इस समय राजर्षि प्रसन्नचन्द्र कालधर्म को प्राप्त हों तो किस गति में जायेंगे ?' जिस समय यह प्रश्न किया था उस समय राजर्षि भयङ्कर युद्ध के विचारों में खोए हुए थे । ऐसे दुष्ट

विचारों में मग्न थे कि अपने आप को भूल चुके थे । विचारों में ही उन्होंने अनेकों का संहार कर दिया था । सर्वज्ञ प्रभु ने राजर्षि के मनोगत भावों को देखा, तब महाराजा श्रेणिक को प्रश्न के उत्तर में कहा- 'हे श्रेणिक ! यदि राजर्षि इस समय कालधर्म को प्राप्त हों तो वे सातवीं नरक के अधिकारी होंगे ।' उत्तर सुनकर महाराजा श्रेणिक विचारों में निमग्न हो गये । सोचने लगे- अहो ! ऐसे साधनारत महामानव भी सातवीं नरक जैसी जघन्य स्थिति को प्राप्त हो सकते हैं तो मेरी क्या स्थिति होगी ? ऐसा क्यों ? विचारों का प्रवाह चालू था । उधर वैचारिक युद्ध में निमग्न राजर्षि का एक हाथ मस्तक पर मुकुट के बहाने जा पहुँचा । राजर्षि तो मुण्डित मुनि थे । मस्तक पर राजचिह्न-मुकुट तो दूर रहा सिर पर बाल भी नहीं थे । मुण्डित मस्तक पर हाथ लगते ही राजर्षि को अपने मुनिपन की स्मृति हो आई । विचारों ने पुनः मोड़ लिया । वे अंधकार से प्रकाश की ओर अग्रसर हो गए। विचार किया- 'अरे ! मैं तो निर्ग्रन्थ संयमी हूँ । मेरा इस संसार से क्या सरोकार ? न मेरा कोई राज्य है, न मेरा कोई पुत्र है, न परिवार ही । अरे ! मैंने अनर्थ कर डाला । कितने अशुभ विचार मेरे मन में आ गये । धिक्कार है मुझे ।' इस प्रकार राजर्षि कुछ ही क्षणों पूर्व किये गये अपने दुष्ट विचारों का पश्चाताप करने लगे । रोद्रध्यान पुनः धर्म ध्यान में परिवर्तित हो गया । अब वे शुक्ल ध्यान की ओर अग्रसर हुए । अशुभ विचारों की स्वयं ने निन्दा की, पश्चाताप किया और परिणामों (भावों) की धारा अत्यन्त उज्ज्वल हो गई । निर्मल विशुद्ध भावों के सम्मुख कर्म दलिक टिक नहीं सके । राजर्षि ने पश्चाताप की अग्नि में कर्मों को भस्मिभूत कर दिया । गुणस्थानों की श्रेणी आरम्भ हुई और विचारों ही विचारों में छठे गुणस्थान से दसवें तक पहुँच गये और दसवें से बारहवाँ और तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त कर लिया । राजर्षि अरिहन्त बन गये । केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त किया । सातवीं नरक के अधिकारी बनने वाले राजर्षि को अरिहन्त बनने में कितना समय लगा ? बहुत अल्प ।

प्रभु महावीर के समक्ष खड़े हुए मगधपति श्रेणिक राजर्षि के बारे में भगवान् के बताये गए निर्णय पर विचार कर ही रहे थे कि राजर्षि अरिहन्त बन गये । केवली महोत्सव मनाने के लिए देवतागण आये । देव दुन्दुभियाँ बजने लगी ।

केवली महोत्सव ने मगधेश का ध्यान भङ्ग किया । विचार हुआ कि किसी महापुरुष ने घनघाति कर्मों को छिन्न-भिन्न कर केवली पद को प्राप्त किया है, यह महापुरुष कौन है ? प्रभु से पूछ ही लिया- 'भगवन् ! यह केवली महोत्सव किस महान् आत्मा का मनाया जा रहा है ?' उत्तर में ज्ञात हुआ कि राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है । पुनः मगधपति विचार निमग्न हो गये। अरे ! यह क्या? अभी-अभी तो राजर्षि के सातवीं नरक में जाने की बात थी और अभी ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया । प्रभु महावीर ने राजर्षि के मनोभावों को प्रकाशित कर महाराज श्रेणिक के संशय को दूर किया ।

उपरोक्त घटना से स्पष्ट है कि शुभ भाव किस प्रकार उच्च पद दिलाने में सहयोगी हैं । वास्तव में इस लोक और परलोक के निर्माण में भावों का प्रमुख स्थान है । इसलिए हमें सदैव शुभ भावों में रमण करना चाहिये । शुभ भावों के लिए कुछ भी काम नहीं करना पड़ता है । केवल विचारों को मोड़ देना होता है । दान के लिए कुछ न कुछ भौतिक पदार्थों का त्याग करना पड़ता है, तप आराधना में शरीर को कुछ कष्ट का अनुभव हो सकता है एवं शील पालन में नियन्त्रण करना पड़ता है लेकिन शुभ भाव परिणमन में यह सब कुछ नहीं करना पड़ता, केवल विचार बदलने पड़ते हैं ।

दान, शील एवं तप की अपेक्षा भाव को सहज बनाया जा सकता है । यह अधिक लाभकारी एवं प्रभावकारी भी है । आवश्यकता है मन पर नियन्त्रण कर कुमार्ग से सन्मार्ग पर लाने की । शुभ भावों का प्रत्यक्ष लाभ आत्म शान्ति एवं सन्तोष के रूप में प्राप्त हो ही जाता है ।

जैसी भावना वैसा फल-

शुभ भावों का प्रतिफल भी शुभ होता है और अशुभ भावों का प्रतिफल भी अशुभ होता है । जैसे भाव हम दूसरों के लिए चिन्तन करते हैं, वैसी ही भावनाएँ दूसरे भी हमारे लिए रखते हैं । महाकवि तुलसीदास जी ने तो यहाँ तक कहा है-

'जाकि रही भावना जैसी, प्रभु मूरत पाई तिन तैसी ।'

हम जिस रङ्ग का चश्मा आँखों पर लगाते हैं, संसार हमें उसी रङ्ग का दिखाई देता है । हम अपने भावों के अनुरूप अपने चारों ओर के वातावरण का निर्माण करते हैं । भावना के अनुरूप ही उसका फल होता है । कहा भी है-

'यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी ।'

अर्थात् जैसी भावना होती है वैसा ही फल मिलता है।

अशुभ भावों को प्रकाशित करने वाला एक और उदाहरण उल्लेखनीय है । एक बड़े मच्छ की आँखों की भोंहों पर निवास करने वाला छोटा-सा चाँवल के आकार वाला तन्दुल मच्छ था । बड़े मच्छ के सांस लेने के साथ ही समुद्र की छोटी-बड़ी मछलियाँ बड़े मच्छ के मुँह में प्रवेश कर जाती है तथा सांस निकालने के साथ ही सभी मछलियाँ जीवित ही बाहर आती हैं । यह क्रिया स्वाभाविक रूप से होती है । बड़े मच्छ की इस क्रिया को देखकर तन्दुलमच्छ विचार करता है- 'यह मच्छ कैसा पागल है ? मुँह में आए हुए शिकार को जीवित छोड़ देता है । यदि इसके स्थान पर मैं होता तो इनमें से एक भी मछली को जीवित नहीं छोड़ता । सभी को भक्ष कर जाता ।' इस प्रकार के अशुभ विचार वह छोटा-सा प्राणी करता है । यद्यपि उसने किसी भी मछली को खाया नहीं और न वह सक्षम ही है । फिर भी अशुभ भावों के कारण तन्दुल मच्छ अपनी अल्प आयु पूरी कर नरक गति में चला जाता है । यह है अशुभ भावों का अशुभ परिणाम ।

भावों की प्रधानता–

शुभ भावों के द्वारा जीव आश्रव के स्थान पर रहकर भी संवर कर सकता है और अशुभ भावों के द्वारा संवर के स्थान पर पापों का बन्ध कर सकता है । इसे हम थोड़ा दृष्टान्त द्वारा समझने का प्रयास करें ।

एक बार एक नगरमें नृत्य और मधुर संगीत से परिपूर्ण किसी नाटक मण्डली का प्रदर्शन चल रहा था । संयोगवश उसी नगर में एक त्यागी महात्मा मुनिराज भी पधारे । नाटक मण्डली के नाटक और मुनिराज के प्रवचन का समय लगभग एक ही था । दो मित्र उसी नगर में एक साथ रहा करते थे । एक मित्र ने नाटक देखने की इच्छा प्रकट की तो दूसरे ने कहा कि आज तो मुनिराज पधारे हैं उनका प्रवचन सुनना चाहिये । उन्होंने यह निर्णय किया कि दोनों अपनी-अपनी रूचि के अनुसार आज अलग-अलग ही जावें । प्रथम मित्र नाटक देखने गया और दूसरा मित्र प्रवचन सुनने ।

सन्त महात्मा का आध्यात्मिक विचारों से परिपूर्ण, मार्मिक प्रवचन चल रहा था । महात्मा के विचार उच्च कोटि के, आत्मलक्षी थे । परन्तु प्रवचन में गये उस मित्र का मन चञ्चल था । प्रवचन के उत्तम भावों को ग्रहण नहीं कर पाया । उसके मन में विचार आया कि 'मैं कहाँ फँस गया ? ये शुष्क, नीरस बातें मेरी समझ में नहीं आ रही हैं । मेरा वह मित्र धन्य है, जो मधुर संगीत सुन रहा होगा, रंगीले नृत्यों का आनन्द ले रहा होगा । मैंने व्यर्थ में ही यहाँ आकर अपना समय नष्ट किया ।' इस प्रकार धर्म के स्थान पर आकर भी वह स्वयं को धिक्कार रहा है ।

उधर दूसरा मित्र नाटक तो देख रहा है परन्तु सोचता है- 'मैं कैसा अभागा हूँ, कैसा पतित हूँ ? जो महान उपकारी सन्तों का प्रवचन छोड़कर यहीं नाच-गान में उलझ रहा हूँ । मेरा वह मित्र धन्य है जो महापुरुषों की पावन वाणी सुन रहा है ' उधर वह मित्र

जैसी भावना वैसा फल-

शुभ भावों का प्रतिफल भी शुभ होता है और अशुभ भावों का प्रतिफल भी अशुभ होता है । जैसे भाव हम दूसरों के लिए चिन्तन करते हैं, वैसी ही भावनाएँ दूसरे भी हमारे लिए रखते हैं । महाकवि तुलसीदास जी ने तो यहाँ तक कहा है-

'जाकि रही भावना जैसी, प्रभु मूरत पाई तिन तैसी ।'

हम जिस रङ्ग का चश्मा आँखों पर लगाते हैं, संसार हमें उसी रङ्ग का दिखाई देता है । हम अपने भावों के अनुरूप अपने चारों ओर के वातावरण का निर्माण करते हैं । भावना के अनुरूप ही उसका फल होता है । कहा भी है-

'यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी ।'

अर्थात् जैसी भावना होती है वैसा ही फल मिलता है।

अशुभ भावों को प्रकाशित करने वाला एक और उदाहरण उल्लेखनीय है । एक बड़े मच्छ की आँखों की भोंहों पर निवास करने वाला छोटा-सा चाँवल के आकार वाला तन्दुल मच्छ था । बड़े मच्छ के सांस लेने के साथ ही समुद्र की छोटी-बड़ी मछलियाँ बड़े मच्छ के मुँह में प्रवेश कर जाती है तथा सांस निकालने के साथ ही सभी मछलियाँ जीवित ही बाहर आती हैं । यह क्रिया स्वाभाविक रूप से होती है । बड़े मच्छ की इस क्रिया को देखकर तन्दुलमच्छ विचार करता है- 'यह मच्छ कैसा पागल है ? मुँह में आए हुए शिकार को जीवित छोड़ देता है । यदि इसके स्थान पर मैं होता तो इनमें से एक भी मछली को जीवित नहीं छोड़ता । सभी को भक्ष कर जाता ।' इस प्रकार के अशुभ विचार वह छोटा-सा प्राणी करता है । यद्यपि उसने किसी भी मछली को खाया नहीं और न वह सक्षम ही है । फिर भी अशुभ भावों के कारण तन्दुल मच्छ अपनी अल्प आयु पूरी कर नरक गति में चला जाता है । यह है अशुभ भावों का अशुभ परिणाम ।

भावों की प्रधानता-

शुभ भावों के द्वारा जीव आश्रव के स्थान पर रहकर भी संवर कर सकता है और अशुभ भावों के द्वारा संवर के स्थान पर पापों का बन्ध कर सकता है। इसे हम थोड़ा दृष्टान्त द्वारा समझने का प्रयास करें।

एक बार एक नगरमें नृत्य और मधुर संगीत से परिपूर्ण किसी नाटक मण्डली का प्रदर्शन चल रहा था। संयोगवश उसी नगर में एक त्यागी महात्मा मुनिराज भी पधारे। नाटक मण्डली के नाटक और मुनिराज के प्रवचन का समय लगभग एक ही था। दो मित्र उसी नगर में एक साथ रहा करते थे। एक मित्र ने नाटक देखने की इच्छा प्रकट की तो दूसरे ने कहा कि आज तो मुनिराज पधारे हैं उनका प्रवचन सुनना चाहिये। उन्होंने यह निर्णय किया कि दोनों अपनी-अपनी रूचि के अनुसार आज अलग-अलग ही जावें। प्रथम मित्र नाटक देखने गया और दूसरा मित्र प्रवचन सुनने।

सन्त महात्मा का आध्यात्मिक विचारों से परिपूर्ण, मार्मिक प्रवचन चल रहा था। महात्मा के विचार उच्च कोटि के, आत्मलक्ष्यी थे। परन्तु प्रवचन में गये उस मित्र का मन चञ्चल था। प्रवचन के उत्तम भावों को ग्रहण नहीं कर पाया। उसके मन में विचार आया कि 'मैं कहाँ फँस गया ? ये शुष्क, नीरस बातें मेरी समझ में नहीं आ रही हैं। मेरा वह मित्र धन्य है, जो मधुर संगीत सुन रहा होगा, रंगीले नृत्यों का आनन्द ले रहा होगा। मैंने व्यर्थ में ही यहाँ आकर अपना समय नष्ट किया।' इस प्रकार धर्म के स्थान पर आकर भी वह स्वयं को धिक्कार रहा है।

उधर दूसरा मित्र नाटक तो देख रहा है परन्तु सोचता है- 'मैं कैसा अभागा हूँ, कैसा पतित हूँ ? जो महान उपकारी सन्तों का प्रवचन छोड़कर यहीं नाच-गान में उलझ रहा हूँ। मेरा वह मित्र धन्य है जो महापुरुषों की पावन वाणी सुन रहा है' उधर वह मित्र

धर्म के स्थान पर भी पुण्य नहीं अर्जित कर पाया और इस मित्र ने पाप के स्थान पर भी पुण्य का अर्जन किया । यह सब भावना का अन्तर है । कई लोग धर्म स्थानों पर भी दुर्भावनाएँ लेकर आते हैं । जो धर्म आराधना का स्थान है, आत्मा के कल्याण का स्थान है वहाँ पर आकर भी चोरियाँ करते हैं, अशुभ भावनाएँ रखते हैं । यद्यपि स्थान का भी अपना महत्व है । शुभ, पवित्र, धर्म स्थान पर जाने से सामान्य व्यक्तियों के विचार निर्मल बन जाते हैं, फिर भी कुछ अशुभ प्रकृति के व्यक्ति होते हैं, जो वहाँ भी पाप का बन्धन करते हैं और ज्ञानीजन पाप के स्थान पर रहकर भी पुण्य अर्जित करते हैं । इसलिए कहा है-

'जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा, ते आसवा'

अर्थात् जो बन्धन के हेतु हैं वे ही कभी मोक्ष के हेतु भी हो सकते हैं और जो आश्रव के हेतु हैं वे कभी आश्रव के हेतु नहीं भी हो सकते हैं ।

हम भी अपने विचारों को मोड़ दें, भावना में सुधार लावें और उत्तम उत्कृष्ट भावना को हृदय में विकसित करें । कवि कहता है-

भावना दिन रात मेरी, सब सुखी संसार हो ।
सत्य संयम शील का, प्रचार घर-घर द्वार हो ॥
शान्ति और आनन्द का, हर एक में वास हो ।
वीर वाणी पर सभी, संसार का विश्वास हो ॥

प्रत्येक मानव यदिआज अपने विचारों को बदलकर स्व-पर कल्याण की बात सोचे, सदैव दूसरों के हित की बात सोचे तो आज जो विषमता का भयङ्कर वातावरण बना हुआ है उसे शुभ भावना द्वारा दूर कर विश्व और समाज में समता रस की सरिता बहा सकते हैं । सन्त कवि तुलसीदासजी ने कहा है-

परहित सरिस धर्म नहीं भाई ।
पर पीड़ा सम नहीं अधमाई ॥

इसलिए जो अपना हित चाहते हैं, समाज का हित चाहते हैं, जीवन में आनन्द की अनुभूति चाहते हैं, तो वे अनिष्ट विचारों का त्याग कर जगत के कल्याण की भावना बनावें। 'मेरी भावना' नामक कविता के पदों का चिन्तन करें तो भी बहुत लाभ की सम्भावना है। कविता के कुछ पदों का मैं यहाँ उच्चारण कर रहा हूँ-

नहीं सताऊँ किसी जीव को, झूँठ कभी नहीं कहा करूँ।
पर धन वनिता पर न लुभाऊँ, सन्तोषामृत पिया करूँ॥
अहङ्कार का भाव न रक्खूं, नहीं किसी पर क्रोध करूँ।
देख दूसरों की बढ़ती को, कभी न ईर्ष्या भाव धरूँ॥
रहे भावना ऐसी मेरी, सरल सत्य व्यवहार करूँ।
बने जहाँ तक इस जीवन में, औरों का उपकार करूँ॥

भावना की श्रेष्ठता से ही प्रथम चक्रवर्ती श्री भरत महाराज ने शीशमहल में केवल ज्ञान प्राप्त किया। माता मरुदेवी ने हाथी पर बैठे-बैठे ही केवल ज्ञान प्राप्त किया, महामुनि गजसुकुमाल ने श्मशान भूमि में मुक्ति को वरण किया। इसके विपरीत कालु कसाई ने दुर्भावना के कारण बिना द्रव्य हिंसा किये ही पाप का बन्ध किया। इसलिए अशुभ भावों पर नियन्त्रण लगावें, उन्हें मोड़ देवें और शुभ भावना बनावें।

भावनाओं के प्रकार-

ज्ञानियों ने स्थूल रूप से भावना के चार भेद किये हैं- 1. दानवीय भावना 2. मानवीय भावना 3. देवी भावना और 4. ब्रह्म भावना।

1. दानवीय भावना

सामान्य रूप से जो दूसरों की सम्पत्ति पर अपना अधिकार चाहता है, वह दानव कहलाता है। पशु दूसरे के हिस्से को पहले खाना चाहता है। कुछ व्यक्ति भी इस प्रकृत्ति के होते हैं, जो दूसरों

के हिस्से पर अधिकार चाहते हैं । कभी-कभी अपने थोड़े से लाभ के लिए दूसरों का अहित भी करने को तत्पर हो जाते हैं । यही नहीं कुछ व्यक्ति दूसरों का अहित करने के लिए अपना अहित भी करने को तैयार हो जाते हैं । कहावत है- 'अपनी नाक कटे तो कटे, दूसरों के सकुन तो बिगड़ेंगे ।' ये दानवीय भावना के लक्षण है, पशुता के चिह्न हैं ।

एक बार किसी व्यक्ति ने किसी देव की आराधना कर उसे प्रसन्न किया । देव ने प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया कि जो वह मांगेगा वह मिलेगा लेकिन उससे दुगुना पड़ौसी को भी प्राप्त होगा । उस व्यक्ति ने एक सुन्दर बंगले की मांग की । उसके वैसा ही बंगला बन गया । पड़ौसी को दुगुना लाभ हुआ, दो बंगले बन गये । उसने एक बढ़िया मोटरकार की मांग की । बंगले के बाहर सुन्दर कार खड़ी हो गई । यह क्रम चलता रहा । लेकिन एक दिन इस व्यक्ति के मन में दुर्भावना ने जन्म लिया । विचार किया कि यह तो ठीक नहीं है । मेरे साथ-साथ पड़ौसी को भी लाभ होता है और वह भी मुझसे दुगुना । उससे यह सहन नहीं हुआ । वह ईर्ष्या की अग्नि में जलने लगा । परेशान हो गया । कोई उपाय नहीं दिख पड़ा। आखिर दूसरे व्यक्तियों से राय भी लेने का विचार किया । आप जानते हैं कुछ व्यक्ति बुरे कार्यों के लिए निःशुल्क वकालत करने को तैयार हो जाते हैं । ऐसा ही वकील इस व्यक्ति को भी मिल गया । उसने राय दी- तू अपनी आँख फूटने का वरदान मांग ले, जिससे तू तो काणा ही होगा लेकिन तेरा पड़ौसी अन्धा हो जायेगा । फिर तू दूसरा वरदान मांगना कि तेरे घर के बाहर एक बड़ा सा खड्डा तैयार हो जावे । बस, तेरा काम बन जाएगा । पड़ौसी के घर के बाहर दो बड़े खड्डे हो जावेंगे ।

ऐसा ही हुआ । अब कल्पना करें कि एक तो व्यक्ति अन्धा हो और फिर मकान के बाहर खड्डे हों तो उसकी क्या दशा होगी ? बेचारा पड़ौसी दुःखी हो गया । देव ने विचार किया कि

उसके वरदान का दुरुपयोग हो रहा है, इसलिए वरदान वापस ले लिया और दोनों अपनी पूर्व की स्थिति में आ गए ।

इस उदाहरण से आप यह स्पष्ट समझ गए होंगे कि जो सदैव दूसरों का अशुभ चिन्तन करते हैं, ऐसी दुष्ट प्रकृति के लोग दानव कहलाते हैं । वे सोचते हैं- मेरा तो मेरा है ही, तेरा सो भी मेरा है ।

2. मानवीय भावना-

दूसरी भावना है मानवीय ! जो न्यायप्रिय होता है, संतोषी होता है, समता रस का पान करता है, अपनी वस्तु अपनी समझता है तथा दूसरों की वस्तु दूसरों की ही समझता है, कभी किसी का अनिष्ट नहीं चाहता, शुभ चिन्तन करता है, वही मानव है - उसकी मानवीय भावना है ।

3. देवी भावना-

तीसरी देवी भावना है । जो सदैव दूसरों के हित का चिन्तन करता है, परोपकार करता है, दूसरों के हित के लिए अपने हित की बलि दे देता है, शुभ भावों में रमण करता है, अन्याय अनीति से दूर रहता है, गुणियों की सेवा करता है, दया और दान को जीवन में विकसित करता है, उसका जीवन दिव्य बन जाता है, अनुकरणीय बन जाता है, वह सदैव दूसरों को देने की भावना रखता है । वह मानव के चोले में देव है । वह दूसरों की वस्तु को तो कभी अपनी बनाना चाहता ही नहीं, परन्तु अपनी वस्तु को भी अपनी नहीं समझता । यह उत्तम भावना है । इस भावना से आसक्ति घटती है ।

4. ब्रह्म भावना-

इस भावना से मानव ब्रह्म बन जाता है । इस अवस्था में अपने पराये का भेद समाप्त हो जाता है । जब मानव को स्व-पर का भेद-ज्ञान हो जाता है, वह समझ जाता है कि संसार की समस्त वस्तुएँ नाशवान हैं, आत्मा अजर-अमर है, पुद्गल नष्ट होने वाले

हैं । पदार्थ न मेरे हैं न पराये हैं, अन्तर-ज्योति जागृत हो जाती है, तो वह आत्म तत्त्व को समझकर वीतराग अवस्था को प्राप्त कर लेता है । यह ब्रह्म भावना है ।

आचार्य अमितगति ने चार शुभ भावों का उल्लेख किया है-

सत्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम् ।
माध्यस्थ भावं, विपरीत वृत्तौ,
सदा ममात्मा विद्धातु देव ॥

अर्थात् 1. संसार के समस्त प्राणियों के प्रति मेरा मैत्री भाव हो, 2. गुणीजनों के प्रति प्रमोद-उल्लास भाव हो, 3. दुखियों के प्रति करुणा भाव हो तथा 4. प्रतिकूल वृत्ति वालों के प्रति मध्यस्थ-तटस्थ भाव रहे । कितनी उत्तम भावना है। कैसे सुन्दर विचार हैं । हम भी अपनी भावना शुभ बनाकर मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर हों ।

भावना का प्रभाव-

भावना का प्रभाव बहुत प्रबल होता है । यदि कोई किसी का अशुभ चिन्तन करता है तो दूसरा भी उसके प्रति अशुभ चिन्तन करेगा । यदि आप दूसरे का भला चाहेंगे तो वह भी आपका भला चिन्तन करेगा । एक दृष्टान्त से यह अधिक स्पष्ट हो सकेगा ।

एक बार एक सेठ पुत्र अपने कुछ मित्रों के साथ नगर के राजा के दर्शन करने गया । सेठ पुत्र ने राजा के दर्शन किये, कुछ देर ठहर कर वापस रवाना हो गया । राजा ने सेठ पुत्र को देखा और ज्योंहि वह जाने लगा, अंगरक्षक को आदेश किया- इस युवक (सेठ पुत्र) को देश निकाला दे दिया जाय । कल सूर्योदय से पूर्व यह मेरे राज्य को त्यागकर अन्यत्र चला जाय अन्यथा इसे मृत्युदण्ड दिया जायेगा । यह आदेश सुनते ही सभी स्तम्भित रह गये । सेठ पुत्र को आदेश सुना दिया गया । किसी को भी समझ में नहीं आया

कि क्यों राजा ने ऐसा कठोर आदेश दिया है ? सभी अपने-अपने स्थान पर चले गये । सेठ पुत्र घर आया और विचार मग्न हो गया कि आज तो राजा के दर्शन बहुत महँगे पड़ गये । राजा ने केवल मेरे लिए ऐसा आदेश क्यों दिया ? सभी चिन्तित थे कि अब क्या होगा ?

विचार ही विचार में संध्या हो गई । सेठ पुत्र अपने पलंग पर सोया-सोया विचार कर रहा है । राजा के दण्ड से कैसे मुक्त होऊँ ? उसने विचार किया कि राजा ने मेरे लिए ऐसा आदेश क्यों दिया ? उसे याद आया कि जब वह राजकक्ष में पहुँचा और ज्योंहि उसने राजा के दर्शन किए उसके मन में ऐसा विचार आया कि यदि यह राजा मृत्यु को प्राप्त हो जाये तो मेरे घर पर जो बहुमूल्य बावना चन्दन लम्बे समय से पड़ा है, उसका अच्छा पैसा प्राप्त हो जाये । उसने सोचा, सम्भव है इसी दुष्ट भावना ने राजा को उसे देश निकाले का आदेश देने को प्रेरित किया हो । इसलिए सेठ पुत्र ने अपने आप को धिक्कारा कि वह राज्य के स्वामी, सुयोग्य शासक की मृत्यु की भावना करता है । मन से मलिनता दूर हो गई । सेठ पुत्र ने विचार किया कि यह बावना चन्दन ही मेरे देश निकाले का कारण है, इसलिए इसे समाप्त कर दिया जावे । यह सोचकर वह रात्रि के अन्धकार में अपने पलंग से उठा और बावने चन्दन की लकड़ियों को बान्धकर नगर के बाहर दूर जंगल में फेंक आया । उसके बाद घर आकर पुनः सो गया । थकान के कारण गहरी निद्रा आ गई ।

जब सेठ पुत्र के मन में राजा के प्रति शुभ विचार आ रहे थे उसी समय रात्रि में राजा भी सोये-सोये विचार कर रहा था कि अकारण ही सेठ पुत्र को ऐसा कठोर दण्ड क्यों दे दिया ? राजा को पश्चाताप हुआ । सेठ पुत्र को बिना अपराध के ऐसा कठोर दण्ड देकर न्याय की हत्या की है । प्रातःकाल जल्दी ही सेठ पुत्र की खोज कराने एवं उसे क्षमा कर देने का विचार राजा के मन में आया ।

भावनाओं का कैसा तीव्र सम्बन्ध है ? इधर सेठ पुत्र के मन में जब राजा के प्रति अशुभ विचार आए तो राजा ने भी स्वतः सेठ पुत्र को कठोर दण्ड की आज्ञा दी । जब सेठ पुत्र के विचार बदल गए तो उसी समय राजा ने भी अपना निर्णय बदल दिया ।

प्रातःकाल होते ही राजा ने सेवकों को बुलाकर सेठ पुत्र की खोज करने का आदेश दिया तथा क्षमा आदेश भी सुना दिया । उधर सेठ पुत्र सूर्योदय के बाद भी गहरी नींद में सोया रहा । उसे अनायास ही राजा के दण्ड का भय समाप्त हो गया । जब राजकीय सेवक सेठ पुत्र के घर आए तब भी वह गहरी नींद में खुर्राटे भर रहा था । वह अब निश्चिन्त था। जब उसे राजकीय सेवकों ने जगाया और पूछा कि क्या उसे मृत्युदण्ड का भय नहीं है ? तो उसने कहा कि दण्ड के मूल को उसने नष्ट कर दिया है इसलिए उसे अब कोई भय नहीं है । राजा ने उसे महलों में बुलाकर क्षमा प्रदान कर दी ।

कभी किसी का बुरा न चाहो–

इस उदाहरण से यह संकल्प करना चाहिए कि कभी किसी का अशुभ चिन्तन नहीं करें । किसी का अनिष्ट न सोचें । एक अंग्रेज विद्वान ने कहा है कि "Fancy May Kill or Cure." 'भावना नष्ट कर सकती है और बचा सकती है।'

शास्त्रों में बारह भावनाओं का भी उल्लेख आता है । साधक को इन भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए, जिससे मोक्ष मार्ग सुलभ हो जावे । संक्षेप में बारह भावनाओं का विवरण निम्न प्रकार से है-

1. अनित्य भावना

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार ।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार ॥

साधक यह चिन्तन करे कि संसार में जो भी वस्तुएँ दृष्टिगत

होती हैं वे सब नाशवान है, अनित्य है । केवल आत्मा नित्य है । भौतिक पदार्थ नाशवान हैं, ऐसा चिन्तन करने से संसार के प्रति आसक्ति घटेगी । इस भावना का भरत चक्रवर्ती ने चिंतन किया था

2. अशरण भावना

दल बल देवी देवता, मात-पिता परिवार ।
मरती बिरियां जीव को, कोई न राखनहार ॥

संसार में धर्म तथा परमात्मा के अलावा अन्य कोई शरण प्रदान करने वाले नहीं है । धन, कुटुम्ब, अधिकार आदि कोई भी शरण देने में सक्षम नहीं है । एक धर्म ही तिराने वाला है ।

एकोहि धम्मो ताणं ।

इस अशरण भावना का चिन्तन अनाथी मुनि ने किया था।

3. संसार भावना

दाम बिना निर्धन दु:खी, तृष्णावश धनवान ।
कहुँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान ॥

संसार के स्वरूप के चिन्तन करना संसार भावना है । संसार में कहीं भी सुख नहीं है, संसार असार है, मुक्ति ही सच्चा एवं शाश्वत सुख है । इस भावना का चिन्तन मल्लिजिन एवं उनके छः मित्रों ने किया ।

4. एकत्व भावना

आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय ।
यो कबहूँ आ जीव को, साथी सगो न कोय ॥

जीव (आत्मा) अकेला आया है और अकेला ही जावेगा । संसार में कोई किसी का साथी नहीं है । इस भावना का चिन्तन मृगापुत्र ने किया था ।

5. अन्यत्व भावना

जहाँ देह अपनी नहीं, तहां न अपना कोय ।
घर सम्पत्ति पर प्रकटये, पर हैं परिजय लोय ॥

आत्मा को संसार के सभी पदार्थों से भिन्न मानना, आत्म-तत्व का चिन्तन करना, संसार में सभी स्वार्थ के सम्बन्धी हैं, यह शरीर भी मेरा नहीं है, ऐसा चिन्तन करना अन्यत्व भावना है। राजर्षि नमिराज ने इसका चिन्तन किया। इन्द्र ब्राह्मण का रूप बनाकर आया और नमिराज़ से ग्यारह प्रश्न पूछे। राजर्षि ने अन्यत्व भावना पर आधारित समाधान दिया।

6. अशुचि भावना

दिपै चाम चादर मढी, सड़े पिंजरा देह।
भीतर या सब जगत में, और नहीं छिन गेह॥

शरीर की अशुद्धता, अपवित्रता का चिंतन करना, शरीर को अशुचि का भण्डार समझना अशुचि भावना है। शरीर में रक्त, मांस, मल, मूत्र, कफ, श्लेष्म आदि अपवित्र पदार्थ भरे पड़े हैं, उनका चिन्तन कर शरीर से ममत्व हटाना, अभिमान का त्याग करना अशुचि भावना है। सनत्कुमार चक्रवर्ती ने यह भावना भायी थी।

7. आश्रव भावना

जगवासी घूमे सदा, मोह नींद के जोर।
सब लूटे नहीं दीसता, कर्म चोर चहुं ओर॥

संसार परिभ्रमण का मूल कारण आश्रव है। जब तक व्रत ग्रहण कर आश्रव का निरोध नहीं किया जाता, तब तक दुःखों से छुटकारा नहीं होता, कर्म बन्धन नहीं रुकता, ऐसा चिन्तन करना चाहिए। चोर को देखकर समुद्रपाल ने इस भावना का चिन्तन किया था।

8. संवर भावना

मोह नींद जब उपशमे, सतगुरु देय जगाय।
कर्म चोर आवत रुके, तब कुछ बने उपाय॥

आश्रव का रुकना, आश्रव द्वारों को बन्द करना, संवर है।

संवर के द्वारा पापों का बन्ध रोका जा सकता है, ऐसा चिन्तन करना संवर भावना है । संवर के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। ऐसा चिन्तन हरिकेशी मुनि ने किया था ।

9. निर्जरा भावना

ज्ञान दीप तप तेल भर, घर शोधे भ्रम छोर ।
या विधि बिन निकसे नहीं, पैठे पूरब चोर ॥
पंच महाव्रत संचरण, समिति पंच प्रकार ।
प्रबल पंच इन्द्रिय विजय, धार निर्जरा सार ॥

अनशन आदि बारह प्रकार के तप के महत्व को समझकर उन्हें कर्म क्षय में सहायक समझना, निर्जरा के स्वरूप का चिन्तन करना, निर्जरा भावना है । अर्जुनमाली अणगार ने इस भावना का चिन्तन किया था ।

10. लोक भावना

चौदह राजु उत्तंग नभ, लोक पुरुष संठान ।
ता में जीव अनादि तें, भरमत है बिन ज्ञान ॥

लोक के आकार का चिन्तन करना लोक भावना है । यह लोक चौदह राजु प्रमाण है, इसका आकार नाचते भोपे के समान है, अथवा तीन दीपक एक दूसरे पर उल्टे रखे हुए के समान है । अज्ञान दशा के कारण अनादि काल से यह आत्मा इस विस्तृत लोक में परिभ्रमण कर रहा है । ऐसी भावना शिवराजर्षि ने भायी थी ।

11. बोधि दुर्लभ भावना

तन-धन-कंचन-राजसुख, सबहि सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक पदारथ ज्ञान ॥

बोधि बीज - सम्यक्त्व के स्वरूप का, उसके महत्व का चिन्तन करना, सम्यक्त्व मोक्ष का प्रथम सौपान है, ऐसा चिन्तन करना बोधि दुर्लभ भावना है । सम्यक्त्व के अभाव में मुक्ति असम्भव

है, सम्यक्त्व मुक्ति का प्रधान साधन है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए । इस भावना का चिन्तन भगवान ऋषभदेव के 98 पुत्रों ने किया था ।

12. धर्म भावना

जाँचे सुरतरुदेय सुख, चिन्तन चिन्ता रैन ।
बिन जाँचे बिन चिन्तिये, धर्म सदा सुख दैन ॥

धर्म के महत्व, स्वरूप आदि का चिन्तन करना, धर्म भावना है । एकमात्र धर्म ही शरणदायी है, धर्म के स्वरूप को समझकर आचरण करने से जीव को मुक्ति प्राप्त हो सकती है । मानव जीवन की सार्थकता धर्माचरण से है, ऐसा सदैव चिन्तन करना चाहिए ।

बारह भावनाओं का स्वरूप संक्षेप में समझाने का प्रयत्न किया है । इन भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए ।

तीन मनोरथ-

ग्रहस्थों को श्रावक के तीन मनोरथ का भी चिंन्तन करना चाहिए । इसी प्रकार सन्तों को भी साधु के तीन मनोरथों का चिन्तन करना चाहिए । श्रावक के तीन मनोरथ निम्न प्रकार हैं-

1. वह दिन धन्य होगा जब मैं आरम्भ-परिग्रह से निवृत्त हो जाऊँगा ।
2. वह दिन धन्य होगा जब मैं निर्ग्रन्थ मुनि बनूँगा ।
3. वह दिन धन्य होगा जब मैं संलेखना संथारा युक्त पण्डित मरण को प्राप्त करूँगा ।

दोहा- **आरम्भ परिग्रह तज करि, पंच महाव्रत धार ।**
अन्त समय आलोयणा, करूँ संथारा सार ॥

इस पावन प्रसंग पर सभी अपनी भावना उत्तम बनावें एवं कवि के भावों के साथ अपने भाव जोड़ देवें ।

कब होगा प्रभु ! कब होगा, वह दिवस हमारा कब होगा ॥

हम पतितों से अति प्रेम करें, दुश्मन जन पर भी रहम करें।
हम सब जीवों का क्षेम करें वह दिवस हमारा कब होगा ॥

कब ऊँच-नीच का भेद मिटे, धन जन खोने का खेद मिटे ।
मदमत्सर मिथ्या भेद मिटे, वह दिवस हमारा कब होगा ॥

प्राणी को निज सम पेखेंगे, स्त्री को माता सम देखेंगे ।
लक्ष्मी को मिट्टीवत् लेखेंगे, वह दिवस हमारा कब होगा ॥

जग व्यवहारों को छोड़ेंगे, तृष्णा के बन्धन तोड़ेंगे ।
जीवन प्रभु संग ही जोड़ेंगे, वह दिवस हमारा कब होगा ॥

सुख देकर के सुख मानेंगे, दुःख सहकर के सेवा देंगे ।
सेवामय जीवन कर लेंगे, वह दिवस हमारा कब होगा ॥

प्रार्थना की कड़ियों में भी भक्त कवि विनयचन्दजी अपने आपको प्रभु को समर्पित कर, प्रभु में ही समा जाने की भावना अभिव्यक्त करते हैं, समय मात्र के लिए भी प्रभु को विस्मृत करना नहीं चाहते । ज्ञानियों ने भावना पर अधिक बल दिया है इसलिए शुभ भावनाओं का चिन्तन कर मोक्ष मार्ग का अनुसरण करें ।

समता सर्वभूतेषु, संयमः शुभ भावना ।
आर्तरौद्र परित्यागस्तहि सामायिकं व्रतम् ॥

भावार्थ- समस्त जीवों पर समभाव रखना, पांच इन्द्रियों पर नियंत्रण करना, शुभ भाव रखना, आर्त-रौद्र दुर्ध्यानों का त्याग कर धर्म-ध्यान में अनुरक्त रहना सामायिक व्रत है ।

सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ।

भावार्थ- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र तीनों मोक्ष के उपाय हैं ।

स्वाध्याय बनाम आत्म-दर्शन

स्वाध्याय का अर्थ है-स्वयं का अध्ययन। अपनी आत्मा का अवलोकन करना, स्व-पर का ज्ञान करना, आत्मस्वरूप को समझना स्वाध्याय है। आत्मस्वरूप को समझने में सम्यग्ज्ञान की आवश्यकता रहती है। जिनवाणी का श्रवण अध्ययन, सद्साहित्य का वाचन-पठन सम्यग्ज्ञान में सहायक है। अतः यह भी स्वाध्याय है। स्वाध्याय से स्व-पर का भेद ज्ञान होता है। स्वाध्याय आत्म जागृति का उपाय है।

श्रेयांस जिनन्द सुमर रे ।
चेतन जाण कल्याण करन को, आन मिल्यो अवसर रे ।
शास्त्र प्रमाण पिछाण प्रभु गुण, मन चंचल थिर कर रे ॥ श्रे.
सांस उसांस विलास भजन को, दृढ़ विश्वास पकर रे ।
अजपाभ्यास प्रकाश हिये बिच, सो सुमिरन जिनवर रे ॥ श्रे.

श्री श्रेयांसनाथ प्रभु की प्रार्थना की कड़ियों का उच्चारण किया गया है । भक्त कवि श्री विनयचंदजी संसारी जीवों को प्रभु की प्रार्थना करने की प्रेरणा देते हैं । यद्यपि प्रार्थना में ग्यारहवें तीर्थंकर का नाम उच्चारित कर उन्हें स्मरण करने की प्रेरणा दी है, परन्तु भावों की दृष्टि से सभी तीर्थंकर एक समान आत्मिक शक्ति से सम्पन्न होते हैं । इस अपेक्षा से श्रेयांस प्रभु के नाम के माध्यम से सभी तीर्थंकरों के स्मरण की प्रेरणा स्वतः हो जाती है । तात्पर्य यह है कि परमात्मा का स्मरण सदैव करते रहना चाहिए ।

प्रभु स्मरण कब करें?

आप कहेंगे कि प्रभु का नाम स्मरण कब किया जावे ? ज्ञानी कहते हैं कि प्रभु का स्मरण प्रति समय, प्रति क्षण, निरन्तर किया जाना चाहिए । कवि भी यही कहता है कि प्रमाद त्याग कर, प्रभु भक्ति में, प्रभु की प्रार्थना में लग जाना चाहिए । आधुनिक कवि भारतेन्दु हरिशचन्द्र का कथन है कि-

सांस-सांस पर हरि भजो, वृथा सांस मत खोय ।
ना जाने या सांस को, आवन होय न होय ॥

कवि कहते हैं कि हमें ऐसा दृढ़ विश्वास करना चाहिए कि प्रत्येक सांस प्रभु भजन में लगे । हृदय में आत्म प्रकाश को जागृत करें ।

अवसर को सफल बनावें-

विनयचंदजी कहते हैं कि प्रमाद का त्याग कर चंचल मन को स्थिर कर प्रभु भजन करना चाहिए । हे मानव ! अनन्त पुण्य के

उदय से यह अमूल्य अवसर, मानव भव तथा शास्त्र श्रवण का सुअवसर मिला है । यदि हाथ् से यह सुअवसर निकल गया तो फिर बार-बार ऐसा अवसर मिलने वाला नहीं है । यह आत्म कल्याण करने का अवसर है । इसलिए हे चेतन ! आत्म कल्याण के इस सुअवसर को पहिचान एवं भगवान की भक्ति कर । आत्म कल्याण के लिए चार गतियों में मनुष्य गति श्रेष्ठ है । अन्य तीन गतियों में यह संभव नहीं है । फिर हमको तो सभी प्रकार की सुविधा उपलब्ध है । भगवान महावीर ने कहा है-

'समयं गोयम ! मा पमायए'

अर्थात् हे गौतम ! समय मात्र का प्रमाद मत करो । गौतम चार ज्ञान एवं चौदह पूर्व के ज्ञाता थे; लेकिन भगवान ने उन्हें भी प्रमाद त्यागने का उपदेश दिया । भगवान ने श्री गौतम गणधर को संबोधित कर संसार के समस्त प्राणियों को प्रमाद त्यागने का उपदेश दिया है । कवि विनयचन्द्रजी भी कहते हैं कि शास्त्र प्रमाण हैं, उन्हें पहचान कर, मन को स्थिर कर प्रभु का स्मरण किया जावे ।

आज स्वाध्याय के विषय का प्रसंग आपके समक्ष है । सर्व प्रथम स्वाध्याय का अर्थ समझें । स्वाध्याय शब्द की व्युत्पत्ति दो शब्दों से हुई है- स्व+अध्याय । अर्थात् स्वयं का अध्ययन करना ।

'स्वस्य अध्ययनं स्वाध्यायः'

अर्थात् स्वयं का अध्ययन करना स्वाध्याय है । स्वयं के अध्ययन से तात्पर्य है- अपने आपको देखो, स्वयं को परखो, आत्म निरीक्षण करो । जिसने स्वयं को देख लिया, स्वयं को परख और समझ लिया उसने सब कुछ जान लिया। आचारांग सूत्र में भगवान ने कहा है-

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ ।
जे सव्वे जाणइ से एगं जाणइ ॥

अर्थात् जिसने एक अपनी आत्मा को जान लिया है, उसने सब (संसार) को जान लिया है तथा जिसने सब (संसार) को जान लिया उसने अपनी आत्मा को जान लिया है ।

स्व-पर का ज्ञान-

स्वाध्याय के द्वारा ही आत्म स्वरूप को जाना जा सकता है, जड़ और चेतन के भेद को समझा जा सकता है । स्वाध्याय के अभाव में ही आज मानव अपने कर्तव्य को तथा स्वयं को भूल कर भौतिक जड़ पदार्थों के पीछे भाग रहा है । जो चेतन आत्मा ज्ञानानन्द स्वभावी है वह पुद्‌गलानन्दी बन रहा है । वास्तविक स्वाध्याय न होने से आज मानव स्व-पर के भेद-ज्ञान को नहीं समझ पा रहा है । इसलिए सामान्य मानव आज दुःखी लगता है । यदि स्वाध्याय हो, भेद-ज्ञान हो तो मानव सुख का अनुभव कर सकता है ।

सद्‌साहित्य का अध्ययन-

स्वाध्याय का दूसरा अर्थ- सु-अध्याय भी किया जाता है । 'सु' का अर्थ है- सम्यग् और 'अध्याय' का अर्थ है- अध्ययन ।

'सु आङ् अध्ययन' सु-सुष्ठ रीत्या आङ् उपसर्ग अध्ययनं अर्थात् सद्‌साहित्य का समीचीन पठन-पाठन । अध्याय शब्द के 'सु' विशेषण लगाया गया है । इसलिए यह आवश्यक है कि जिसका अध्ययन किया जावे वह सम्यग् हो, सद्‌साहित्य की श्रेणी में हो, सुग्रन्थ हो । केवल पुस्तकों का पठन-पाठन स्वाध्याय नहीं है । ऐसा साहित्य जो मोक्ष मार्ग का सहायक हो, आत्म ज्योति को जगाता हो, जीवन में क्षमा, शान्ति, निर्लोभता, अहिंसा, दया, प्रेम आदि आध्यात्मिक गुणों का विकास करें, वह सद् साहित्य है । इसलिए ऐसे साहित्य का अध्ययन, पठन-पाठन स्वाध्याय है । जासूसी उपन्यास या अन्य कुसाहित्य जिसमें कामवासना, विकार, अश्लीलता, क्रोध, असन्तोष, मद आदि की अभिवृद्धि है । वह

कुसाहित्य है तथा इनका पठन-पाठन स्वाध्याय नहीं है । कवि भी कहता है-

पढ़ा स्वयं को जाय जिससे, स्वाध्याय कहलाता है ।
कैसा है स्वाध्याय पता न, जिससे अपना पाता है ।
समकित ज्योति जगाकर जो सन्मार्ग दिखलाता है ।
ग्रन्थ वही स्वाध्याय के बस लायक माना जाता है ।
उल्टे राह चलावें जो क्या पढ़ना कथा कहानी का ॥

सम्यग् रीति से स्वाध्याय करें-

सद्साहित्य को पढ़ना ही नहीं, पढ़ाना भी स्वाध्याय कहलाता है। पठन-पाठन दोनों स्वाध्याय कहलाते हैं । आगम, धार्मिक ग्रन्थ, सद्साहित्य का समीचीन रीति से अध्ययन करना चाहिये । प्रत्येक कार्य को करने की विशेष रीति होती है । धर्म ग्रन्थों को पढ़ने-पढ़ाने के लिए विनय एवं विवेक भी आवश्यक है । वीतराग वाणी के प्रति हमारा अत्यन्त विनय, बहुमान एवं सम्मान होना आवश्यक है । इसलिए स्वाध्याय करते समय यतना, विवेक, विनय आवश्यक है । तात्पर्य यह है कि कुआसन का त्यागकर सुआसन से सामायिक या संवर की स्थिति में बैठ कर पूर्ण बहुमान एवं विनयपूर्वक धर्म ग्रन्थों का पठन-पाठन करें ।

स्वाध्याय क्यों ?

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा-

'सज्झाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ !'

अर्थात् हे प्रभु ! स्वाध्याय से जीव को क्या लाभ है ? प्रभु का उत्तर था-

'सज्झाएणं जीवे नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ'

अर्थात् स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म नष्ट होता है ।

स्वाध्याय मोक्षमार्ग का साधन-

यदि मोक्षमार्ग के प्रमुख अंग सम्यग्ज्ञान की आराधना करनी है, ज्ञानावरणीय कर्म को नष्ट करना है, तो स्वाध्याय किया जावे । ज्ञान अनन्त प्रकाश है, अज्ञान अन्धकार है । कहा भी है-

'नाणस्स सव्वस पगासणाए'

लोकालोक को प्रकाशित करने वाला ज्ञान है । स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । सम्यग्ज्ञान के बारे में मैं आपको पूर्व में काफी कुछ कह चुका हूँ । इसलिए स्वाध्याय के विषय में कुछ कहने का प्रसंग है ।

आज अध्ययन तो बहुत होता है, परन्तु स्वाध्याय का बहुत अभाव है । भौतिक ज्ञान, सांसारिक ज्ञान और बाह्य ज्ञान की तो बहुत अभिवृद्धि हुई है, परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान स्वाध्याय का ह्रास हो रहा है । उपन्यास, नाटक या कथा साहित्य तो लोग खूब पढ़ते हैं परन्तु उस साहित्य से आत्मा का क्या सम्बन्ध है ? शैक्षणिक योग्यताएँ बढ़ी हैं, बड़ी-बड़ी डीग्रियाँ प्राप्त की जाती हैं परन्तु उसकी तुलना में धर्म ग्रन्थों का अध्ययन नगण्य है । इसलिए मैं तो कहता हूँ कि स्वाध्याय नितान्त आवश्यक है ।

शान्ति का मार्ग-स्वाध्याय-

आज विश्व में भौतिक होड़ चल रही है, अर्थ की दौड़ हो रही है । प्रत्येक व्यक्ति भौतिक साधनों को जुटाने में लगा है । विभिन्न देशों में शक्ति परीक्षण की होड़ लग रही है । सम्पूर्ण विश्व आज विनाश के कगार पर खड़ा है । न जाने कव विनाश की चिनगारी सुलग जावे और कुछ ही क्षणों में विश्व रसातल में पहुँच जाए । क्या यही विकास है ? क्या यही ज्ञान की अभिवृद्धि है ? आप चिन्तन करें कि ऐसा क्यों हुआ ? मूल में बात यह है कि स्वाध्याय का अभाव है, जिससे जीवन में समता का प्रादुर्भाव नहीं हो पाया है । इसलिए आज मानव-मानव का व एक देश दूसरे देश

का शत्रु बन गया है। यदि स्वाध्याय का साम्राज्य हो तो फिर मानव दुष्चिन्तन क्यों करेगा ? सभी प्राणियों को अपने समान समझेगा। 'आत्मवत सर्व भूतेषु' की भावना की अभिवृद्धि होगी, 'वसुधैव कुटुम्बकं' की धारणा प्रबल होगी।

स्वाध्याय से जीवन में समता का संचार, सन्तोष की अभिवृद्धि, वास्तविक शान्ति की प्राप्ति तथा सच्चे सुख का अनुभव होगा। स्वाध्याय के अभाव में तृष्णा बढ़ती जा रही है और तृष्णा तो अनन्त है। कहा है-

'इच्छा हु आगास समां अणंतिया'

इच्छा, तृष्णा आकाश के समान अनन्त है। जब तक तृष्णा का अन्त नहीं होता, शान्ति कैसे मिल सकती है ? स्वाध्याय के द्वारा ही तृष्णा पर विजय पाना सम्भव है। इसलिए यदि वास्तविक सच्चा सुख चाहते हों तो स्वाध्याय को जीवन का प्रमुख अंग बनाओ। कवि भी कहता है-

सुना आपने नहीं कभी क्या, वचन श्री गुरु ज्ञानी का।
तिरने को संसार सदा, स्वाध्याय करो जिनवाणी का॥
ज्ञान ग्रन्थ तो मानव जग में, जीवन व्यर्थ गँवाता है।
आत्मा का परमात्मा का न, पता उसे कुछ पाता है॥
चौरासी के चक्कर में फँस, कष्ट अनेक उठाता है।
अन्त कभी भी कष्टों का, न उसको फिर तो आता है॥
दुःख का ही बस बनता सागर, जीवन उस अज्ञानी का।
तिरने को संसार सदा, स्वाध्याय करो जिनवाणी का॥
जिनवाणी स्वाध्याय आपके, मन की कली खिलायेगा।
जिनवाणी स्वाध्याय आपके, मन को शान्त बनायेगा॥
जिनवाणी स्वाध्याय आपके, मन का तमस मिटायेगा।
जिनवाणी स्वाध्याय आपके, सारे कष्ट भगायेगा॥
जिनवाणी स्वाध्याय अतः कर्तव्य प्रथम है प्राणी का।
तिरने को संसार सदा, स्वाध्याय करो जिनवाणी का॥

स्वाध्याय तप है-

भगवान् ने तप के बाहर भेद कहे हैं, उनमें दसवाँ भेद स्वाध्याय है । स्वाध्याय तप का आभ्यन्तर भेद है । स्वाध्याय निर्जरा का प्रबल कारण है । भगवान् ने साधुओं को दिन-रात के आठ प्रहर में पाँच प्रहर स्वाध्याय में लगाने का निर्देश किया है । रात्रि चार प्रहर में से भी दो प्रहर स्वाध्याय के लिए निश्चित किये हैं-

पढमं पोरसि सज्झायं, वीयं झाणं झियायइ ।
तइमाए निद्धमोक्खं तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं ॥

(उत्तराध्ययन सूत्र- अ. 26/18)

अर्थात् साधु प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में निद्रा एवं चौथे में फिर स्वाध्याय करें ।

दशवैकालिक सूत्र में कहा है- साधु निद्रा, हँसी-मजाक, विकथा आदि का त्याग कर सदा स्वाध्याय में रत रहे ।

'सज्झायम्मि रओ सया' (दशवैकालिक 8/42)

स्वाध्याय एक ऐसा तप है जिससे ज्ञान की अभिवृद्धि होती है और कर्मों की निर्जरा भी होती है । यह केवल साधुओं के लिए ही आवश्यक नहीं है, गृहस्थों के लिए भी परम आवश्यक है । जैसा कि पहले ही कहा गया है कि स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म नष्ट होता है ।

स्वाध्याय के भेद-

उववाई सूत्र और भगवती सूत्र में स्वाध्याय के पाँच भेद बताए गये हैं ।

'से किं तं सज्झाय ? पंचविहे पण्णत्ते तंजहा-

1. वायणा 2. पतिपुच्छणा 3. परियट्टणा 4. अणुप्पेहा 5. धम्मकहा ।

(भगवती सूत्र 25/7)

1. वाचना 2. प्रति पृच्छा 3. परिवर्तना 4. अनुप्रेक्षा 5. धर्मकथा ।

1. वाचना

वाचना स्वाध्याय का प्रथम अंग है । सद्साहित्य का पठन-पाठन, गुरुदेव से शास्त्र पढ़ना, सुनना या पाठ लेना 'वाचना' है । शास्त्र आगम साहित्य या उससे सम्बन्धित सद्साहित्य को पढ़ना स्वाध्याय है । आजकल साहित्य प्रकाशन तो बहुत हो रहा है, परन्तु देखना यह है कि हम कौनसा साहित्य पढ़ें । जिस साहित्य में मोक्षमार्ग का उपदेश हो ! आत्मा-परमात्मा की अनुभूति का जिस साहित्य से ज्ञान हो वह सद्साहित्य है । युगदृष्टा, युग प्रवर्तक स्वर्गीय आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. के व्याख्यान शास्त्र सम्मत एवं आत्म ज्योति को प्रज्ज्वलित करने वाले थे । उनके व्याख्यानों को जवाहर किरणावलियों में संकलित करने का प्रयत्न किया गया । ये पुस्तकें सरल भाषा में हैं तथा आगमों का बोध कराने वाली है । इसलिए ऐसे साहित्य का वाचन स्वाध्याय है । इसी प्रकार अन्य साहित्य भी उपलब्ध है, जिससे जैन आगमों का ज्ञान होता है, जैन तत्वों को समझा जा सकता है । ऐसे साहित्य का वाचन करना चाहिये । इससे दोहरा लाभ होगा । प्रथम ज्ञान का विकास होगा तथा दूसरा समय का सदुपयोग हो सकेगा। जीवन में आनन्द की अनुभूति होगी ।

(श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर द्वारा प्रकाशित 'जिणधम्मो' में जैन सिद्धान्त सम्बन्धी विशाल ज्ञान समाहित है । यह ग्रन्थ सिद्धान्त प्रेमियों के लिए अवश्य पठनीय है ।)

2. प्रति पृच्छा

जब हम सद्साहित्य का वांचन करेंगे तो कई जिज्ञासाएँ उत्पन्न होंगी, शंकाएँ उठेंगी । इन शंकाओं का समाधान आवश्यक है । समाधान के लिए गुरुओं के समक्ष प्रश्न कर उनका उत्तर प्राप्त करना चाहिये । शंका का निवारण शीघ्र करना आवश्यक है,

अन्यथा उसका बड़ा भयंकर परिणाम होता है । इसलिए प्रश्न पूछकर शंका समाधान करना चाहिये । यह प्रति पृच्छा नाम का स्वाध्याय है । प्रति पृच्छा से शंका दूर होने के साथ-साथ ज्ञान में भी अभिवृद्धि होती है ।

3. परिवर्तना

सीखे हुए ज्ञान को पुनः पुनः दोहराना, पुनरावृत्ति करना, परिवर्तना नामक स्वाध्याय है । परिवर्तना भी अत्यन्त आवश्यक है । अन्यथा सीखे हुए ज्ञान के भूल जाने की सम्भावना है । यथा अवसर समय-समय पर ज्ञान का पुनरावर्तन करते रहना चाहिये ताकि ज्ञान में स्थिरता आवे एवं वह आत्मसात् हो जावें । रात्रि में प्रकाश के अभाव में भी यह स्वाध्याय सम्भव है । फालतू समय का सदुपयोग भी परिवर्तना द्वारा किया जा सकता है ।

4. अनुप्रेक्षा

वाचनादि उपरोक्त तीन प्रकार से सीखे हुए ज्ञान का बार-बार चिन्तन-मनन करना, गहराई से विचार करना, अवसर आने पर उपयोग लगाना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है । जैसे किसी ने पच्चीस बोल का श्लोक कण्ठस्थ कर लिया, फिर प्रत्येक बोल का चिन्तन-मनन करे, उपयोग पूर्वक उसके भाव को समझे तो वह अनुप्रेक्षा कहलायेगा।

5. धर्म कथा

उपरोक्त चार प्रकार के सीखे हुए ज्ञान को अन्य श्रोताओं को सुनाना, धर्म कथा है । धर्म कथा से श्रुत ज्ञान की अभिवृद्धि होती है । धर्म कथा जिनवाणी के अनुकूल होनी चाहिये । जिनवाणी के अतिरिक्त अन्य बातें, मनोरंजन, मान-पूजा आदि के लिए दिये गये उपदेश धर्म कथा नहीं है। धर्म कथा तो वह है जिससे सुनने वाले का ज्ञान बढ़ता है, निर्मल होता है तथा श्रोता को जिनवाणी का लाभ मिलता है ।

प्रवचन सुनना भी स्वाध्याय है । प्रवचन सुनने से बहुत लाभ है ।

एक समय की बात है । एक नगर में जिनवाणी का जिज्ञासु एक श्रावक रहता था । वहाँ पर सन्त-सतियों के प्रवचन का लाभ कई बार मिल जाया करता था । श्रावकजी को जब भी प्रवचन सुनने का अवसर मिलता, वे सुनने के लिए धर्म स्थान पर पहुँच जाते । आयु के बढ़ने से तथा अशुभ कर्मों के उदय से श्रावकजी के सुनने की शक्ति क्षीण हो गई, फिर भी व्याख्यान में जाना बन्द नहीं किया । एक बार शहर में मुनिराज पधारे और प्रवचन भी हुआ । किसी व्यक्ति ने मुनिराज को उक्त श्रोता की जानकारी देते हुए बताया कि इन्हें बहुत जोर से बोलने पर ही सुनाई देता है फिर भी व्याख्यान में बराबर आते हैं । सन्त को कुछ आश्चर्य हुआ इसलिए एक दिन पूछ ही लिया-

'आपको व्याख्यान सुनाई देता है या नहीं ?'

श्रावक- 'नहीं महाराज, मुझे व्याख्यान बहुत कम सुनाई देता है ।'

'फिर भी आप प्रतिदिन व्याख्यान में आते हैं, इसका क्या कारण है ?'

'महाराज ! मुझे यद्यपि सुनाई नहीं देता है, फिर भी व्याख्यान में आने से मुझे बहुत लाभ है । प्रथम तो यह धर्म स्थान है, यहाँ के पुद्गल अच्छे होते हैं इसलिए बाहर की अपेक्षा यहाँ मेरे विचार शुभ रहते हैं । दूसरा, जब मैं व्याख्यान में आता हूँ तो मेरा अनुकरण मेरे परिवार के सदस्य भी करते हैं, जिससे उनको भी व्याख्यान सुनने का अभ्यास बनता है और व्याख्यान के प्रति आदर भाव जागृत होता है । फिर आपके दर्शन हो जाते हैं, जिनवाणी के प्रति मेरी श्रद्धा बनी रहती है । कभी-कभी कोई उत्तम शब्द मेरे कानों में भी पड़ जाता है ।

महाराज को उत्तर सुनकर बहुत सन्तोष हुआ ।

तात्पर्य यह है कि व्याख्यान श्रवण करना भी स्वाध्याय है । इसलिए अभी मेरे को भी स्वाध्याय हो रहा है और आपको भी ।

स्वाध्याय के लाभ–

स्थानांग सूत्र के पाँचवें ठाणे में उल्लेख है कि पाँच कारणों से सूत्र वाचन किया जावे ।

'पंचाहि ठाणेहिं सुत्तं वाएज्जा तंजहा- 1. संगहट्ठयाए 2. उवग्गहणट्ठयाए 3. णिज्जरणट्ठयाए 4. सुत्ते वा मे पज्जवयाए भविस्सई 5. सत्तस्स वा अवोच्छित्तिणयट्ठायाए'

(स्थानांग 5/468)

1. सूत्र का ज्ञान कराने के लिए 2. उपकार करने के लिए 3. निर्जरा के लिए 4. सूत्र ज्ञान को दृढ़ करने के लिए 5. सूत्र का विच्छेद न होने देने के लिए ।

इसका अर्थ यह हुआ कि सूत्र वांचन से- 1. ज्ञान की अभिवृद्धि होती है, 2. परोपकार होता है, 3. स्वयं के कर्मों की निर्जरा होती है, 4. आध्यात्मिक ज्ञान निर्मल होकर अधिक दृढ़ बनता है तथा 5. आगम ज्ञान सुरक्षित रहता है ।

स्वाध्याय प्रकाश पुंज है–

'तमसो मा ज्योतिर्गमय' यह अन्धकार क्या है ? वास्तव में अज्ञान अन्धकार है और ज्ञान ज्योति है । स्वाध्याय जीवन में अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट कर, ज्ञान रूपी प्रकाश फैलाता है । किसी कवि ने कहा है-

स्वाध्याय का आनन्द लेने दो,
मोहे ज्ञान की ज्योति जगाने दो ॥

स्वाध्याय है अन्तर तप भारी, महिमा जिसकी अपरम्पारी ।
मोहे अन्तर तप को करने दो ॥ स्वाध्याय....

स्वाध्याय ज्ञान का साधन है । धारेगा वह ज्ञानी जन है ।
अन्धकार को दूर हटाने दो ॥ स्वाध्याय....

स्वाध्याय आत्म-ज्योति जगाने का साधन है ।

सामायिक में स्वाध्याय-

आप में से अधिकांश महानुभाव प्रतिदिन सामायिक करते हैं, परन्तु स्वाध्याय बहुत कम व्यक्ति करते हैं । यह ठीक नहीं है । सामायिक में स्वाध्याय करना चाहिये । सामान्यतया सामायिक करने वाले भाई-बहिन माला फिरा कर, अनानुपूर्वी पढ़कर, स्तवन-भजन बोलकर या कथा कहानियों में समय पूरा कर देते हैं । कई तो ऐसे भी होंगे जो सामायिक में इधर-उधर की चर्चाएँ एवं विकथाएँ करते हैं । यह अनुचित तथा सामायिक के महत्व को घटाना है ।

सामायिक में स्वाध्याय करना आवश्यक है । कई बार भाई-बहिन कहते हैं कि हमारा सामायिक में मन स्थिर नहीं रहता । मैं उनसे स्वाध्याय करने की राय देता हूँ । आप लोगों ने स्वयं यह अनुभव किया होगा कि माला फिराते समय या अनानुपूर्वी पढ़ते समय मन इधर-उधर घूमता है लेकिन स्वाध्याय करते समय मन स्थिर रहता है । इसलिए मैं आप सभी को आग्रह पूर्वक कहता हूँ कि आप सभी सामायिक में व अन्य समय में आवश्यक रूप से नियमित स्वाध्याय करें । शास्त्रों में कहा गया है-

'पढमं नाणं तओ दया'

अर्थात् दया से ज्ञान आवश्यक है । ज्ञान के अभाव में जीव व अजीव का भेद करना कैसे सम्भव है ? इसलिए ज्ञानाभ्यास आवश्यक है । शास्त्रों के स्वाध्याय से ही हिताहित का बोध सम्भव है । कहा भी है-

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं वि जाणइ सोच्चा, जं सेमं तं समायरे ॥

अर्थात् यह आत्मा सुनने से कल्याण एवं पाप मार्ग को जान पाता है । इसलिए जो श्रेयस्कर है, उसका आचरण करो ।

स्वाध्याय स्व-पर कल्याणक है-

स्वाध्याय में स्वयं का तो कल्याण है ही, दूसरों को भी लाभ होता है। मैं व्याख्यान के माध्यम से स्वाध्याय कर रहा हूँ, तो आप लोगों को हिताहित की बात सुनने को मिल रही है। इसलिए स्वाध्याय से स्वयं के कल्याण के साथ-साथ दूसरों का भी हित होता है।

स्वाध्याय से समाज सुधार-

आज समाज में जो विषमता फैल रही है, उसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि स्वाध्याय का अभाव है। इसलिए यदि स्वाध्याय की अभिवृद्धि हुई तो समाज में सुधार होगा। जैन समाज में दहेज-प्रथा ने भयंकर रूप धारण कर लिया है। इस घिनौनी प्रथा से यदि यों कहें कि मानव समाज कलंकित हो रहा है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। आए दिन विचित्र एवं अप्रिय घटनाएँ मेरे कर्णपटल पर भी पहुँच जाती है। यद्यपि इस समय इस विषय पर अधिक कहने का अवसर नहीं है, फिर भी इतना अवश्य समझें कि जैन समाज को इस अभिशाप से मुक्त होने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

स्वाध्याय के द्वारा समाज का सुधार सम्भव है। यदि समाज के अधिकांश व्यक्ति, भाई-बहिन नियमित स्वाध्याय करें, तो वे दहेज की बुराइयों का अनुभव कर सकेंगे, अनीति और अन्याय से बचने का प्रयत्न करेंगे, विवाह को व्यापार नहीं समझेंगे एवं सौदेबाजी व मांगने की वृत्ति का त्याग करेंगे। हम श्रेष्ठी कहलाते हैं, महाजन कहलाते हैं फिर यह विवाह के प्रसंग पर दहेज की सौदेबाजी करना, लेन-देन का तय करना, अपने ही निकट सम्बन्धी से भिखारी की तरह मांग करना, क्या हमारे लिए शोभाजनक है ? कदापि नहीं ! इसलिए मैं कहता हूँ कि स्वाध्याय के माध्यम से हम अपने आपको पहचाने और समता रस में रम जावें। जो

स्वाध्यायी सदस्य हैं चाहे वे किसी भी संघ के हों, उन्हें तो इस घिनौने अपराध का त्याग करना ही चाहिये ।

स्वाध्याय प्रवृत्ति का विकास हो-

1. सन्तों का दायित्व-

स्वाध्याय की प्रवृत्ति को जन-जन तक पहुँचाई जावे । प्रत्येक नगर एवं गाँव में स्वाध्यायी बनाये जावें । इस कार्य के लिए सन्त-सती समुदाय को भी आगे आना चाहिये, उन्हें भी अपनी मर्यादा में रहते हुए इस उत्तम प्रवृत्ति की अभिवृद्धि का प्रयत्न करना चाहिये । जहाँ भी विचरण करें, चातुर्मास करें, अच्छे योग्य स्वाध्यायी तैयार करें । गृहस्थों को नियमित स्वाध्याय करने की प्रेरणा देवें । इसे अपना दायित्व समझें । परन्तु अपनी मर्यादा में रहकर ही सारा कार्य करें । स्वर्गीय पूज्य जवाहराचार्य ने इस बात पर बहुत बल दिया था । स्वर्गीय पन्नालालजी म. सा. ने गुलाबपुरा में स्वाध्याय संघ की स्थापना की प्रेरणा दी थी । उसके बाद आचार्यश्री हस्तीमलजी म. सा. ने भी स्वाध्याय प्रवृत्ति पर बहुत बल दिया । अन्य भी कई सन्त-सतियाँ इसमें रूचि ले रहे हैं ।

2. स्वाध्याय संघों का दायित्व

स्वाध्याय संघों का भी यह परम कर्तव्य है कि वे योग्य स्वाध्यायी तैयार करें । केवल नाम मात्र के स्वाध्यायी संख्या की अभिवृद्धि की दृष्टि से बनाए गये या पर्युषण पर्व में बाहर जाकर सेवा देने वाले हों तो लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है । स्वाध्याय संघ नियमित स्वाध्याय करने वाले स्वाध्यायी तैयार करें । साधुओं की अपनी मर्यादाएँ होती हैं, लेकिन हम लोग स्वतन्त्र हैं, इसलिए सन्तों के विचारों को मूर्त्त रूप दे सकते हैं ।

आज भारतवर्ष में कुछ स्वाध्याय संघ बने हैं । गुलाबपुरा स्वाध्याय संघ, जोधपुर स्वाध्याय संघ, समता प्रचार संघ, सुधर्म प्रचार मण्डल आदि तो राजस्थान में ही हैं । महाराष्ट्र और दक्षिण

भारत में भी स्वाध्याय संघों ने कार्य करना आरम्भ किया है । इनका और विकास होना चाहिए । स्वाध्याय संघ चाहे जितने प्रारम्भ हों लेकिन उनमें आपस में प्रेम सम्बन्ध हों, ईर्ष्या एवं द्वेष की भावना न हो । यदि स्वाध्याय को विकसित करने वाली संस्थाओं में भी आपस में फूट होगी, द्वेष होगा तो वे भला क्या कर सकेंगी ? यहाँ एक बात आवश्यक है कि स्वाध्याय संघ यदि पर्युषण पर्व में स्वाध्यायियों को बाहर भेजकर व्याख्यान की व्यावस्था तक ही अपने कर्तव्य को सीमित कर देते हैं तो यह उचित नहीं है । इसके आगे भी इनका दायित्व है । वे विभिन्न स्थानों पर योग्य स्वाध्यायी तैयार करें, गाँव-गाँव व नगर-नगर में नियमित स्वाध्याय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करें ।

3. स्वाध्यायी सदस्य का दायित्व

विभिन्न स्वाध्याय संघ के सदस्यों को भी अपने कर्तव्य को समझना चाहिये तथा उसे पालना चाहिये । स्वाध्याय संघ की सदस्यता का फार्म भर देने मात्र से कार्य नहीं चलेगा । कभी-कभी ऐसा भी सुनने में आता है कि कुछ स्वाध्यायी केवल पर्युषण पर्व के दिनों में बाहर जाकर सेवा दे देते हैं, लेकिन अन्य समय में स्वाध्याय नहीं करते, सामायिक नहीं करते । यदि ऐसा है तो उचित नहीं है । स्वाध्यायी सदस्य सामान्य गृहस्थ से उच्च श्रेणी का होना चाहिए । उसका जीवन सामान्य गृहस्थ से अधिक अच्छा बनना ही चाहिए । स्वाध्यायी सदस्यों का कर्त्तव्य है कि वे प्रतिदिन नियमित रूप से स्वाध्याय, सामायिक आदि करें । दुकानदार वही कहलाता है जो अवकाश के दिन के अलावा सामान्यतया प्रतिदिन दुकान पर जाता है । कर्मचारी वही कहलाता है जो अवकाश के अलावा सामान्यतया नियमित कार्यालय में अपना कार्य करता है । फिर जो स्वाध्यायी है उन्हें तो नियमित स्वाध्याय आवश्यक है । जैसे हम भोजन करना शरीर के लिए आवश्यक समझते हैं वैसे ही आत्मा के लिए स्वाध्याय करना आवश्यक है ।

स्वाध्यायी का जीवन बोले-

स्वाध्यायी को यह प्रयत्न करना चाहिए कि उसका जीवन प्रामाणिक एवं धर्म प्रधान तथा आचरण सम्यक् हो । हाँ, यह कार्य एक दिन में नहीं हो सकता, फिर भी हमारा कर्त्तव्य है कि शनैः शनैः जीवन में परिवर्तन लावें, जीवन को उन्नत बनावें । हमारा जीवन ऐसा हो जिसे देखकर यह कहा जा सके कि ये स्वाध्यायी हैं । स्वाध्यायी का जीवन अपने आप बोले तो लक्ष्य की पूर्ण प्राप्ति सम्भव है । स्वाध्यायी बनने के बाद भी जीवन में छल-कपट, मायाचार बना रहे, अप्रमाणिकता बनी रहे तो फिर क्या स्वाध्याय किया ? ऐसा कभी संभव नहीं है कि भोजन करने पर भूख न मिटे । यदि भोजन करने पर भी भूख नहीं मिटे तो समझना चाहिए कि कोई भयंकर रोग है, मूल में कहीं भूल है । इसी प्रकार स्वाध्याय करने से यदि जीवन नहीं बदला तो स्वयं का अनुसंधान करना चाहिए कि जीवनमें सुधार क्यों नहीं हुआ ।

स्वाध्यायी का दायित्व महान है-

आप विचार करें कि आप कितना महान कार्य कर रहे हैं । स्वयं के अध्ययन के साथ-साथ समाज की बहुत बड़ी सेवा का भार आपके जिम्मे है । यह बहुत उपकार का कार्य है । स्वाध्यायी सदस्य सुदूर क्षेत्रों में जाकर, सन्तों की पहुँच से बाहर जाकर, धर्म का प्रचार करते हैं, यह एक महान कार्य है । सन्त-सतियों की संख्या बहुत कम है, तथा क्षेत्र बहुत अधिक हैं । इसलिए सभी स्थानों पर चातुर्मास नहीं हो सकते हैं । साथ ही ऐसे कई शहर, गाँव एवं क्षेत्र हैं जहाँ पर सन्त-सती अपनी मर्यादाओं का पालन करते हुए पहुँच नहीं सकते या वहाँ पर रह नहीं सकते । ऐसे सभी स्थानों पर ये स्वाध्यायी सदस्य पर्युषण पर्व के पावन दिनों में अपनी अमूल्य सेवाएँ देते हैं, वहाँ के निवासियों को भगवान की वाणी सुनाते हैं, जिनवाणी का अमृत पिलाते हैं । उनके जाने से उन स्थानों पर धर्म की जागृति होती है, धर्म का प्रचार-प्रसार होता है,

भूले-भटके प्राणी पुनः जिन-मार्ग का अनुसरण करते हैं । इसलिए स्वाध्यायी सदस्यों का यह धर्म-दान है ।

मैं कहना चाहता हूँ कि स्वाध्यायियों पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है, इसलिए आप उसे पूर्ण सजगता के साथ निभावें । स्वाध्याय के द्वारा आगमों के मर्म को समझें तथा जीवन को प्रामाणिक एवं उज्ज्वल बनाकर समाज में अपना आदर्श स्थापित करें । स्वाध्याय संघों द्वारा समय-समय पर प्रसारित नियमों का पालन करें । इससे आपका भी कल्याण है और समाज का भी ।

वीर संघ- जिन-जिन स्वाध्यायियों का जीवन निवृत्ति, स्वाध्याय-साधना एवं सेवा प्रधान है, वे वीर संघ के सदस्य बन सकते हैं । वीर संघ गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी जीवन को त्यागमय बनाने की प्रेरणा देने वाली संस्था है । पूज्य जवाहराचार्यश्री युगपुरुष थे । उन्होंने अनुभव किया कि धर्म प्रचार का कार्य भार केवल सन्तों पर ही रह गया है तथा सन्तों की अपनी मर्यादाएँ हैं । इसलिए वे चाहते थे कि श्रावकों एवं साधुओं के बीच एक कड़ी ऐसी हो जो समाज में धर्म-प्रचार का कार्य कर सके, जिनका जीवन उत्तम तथा निवृत्तिमय हो ताकि सन्त समुदाय निर्दोष संयम की पालना कर सकें, उन्हें मर्यादा से स्खलित होने की आवश्यकता ही न रहे । यह कड़ी सद्गृहस्थों एवं सुश्रावकों की हो । यद्यपि उस समय उनका यह सपना साकार नहीं हो सका । 'वीर संघ' योजना उसी का एक प्रयोग है । उस दिशा में एक कदम है । समता प्रचार संघ भी उसी की एक कड़ी है ।

समता प्रचार संघ एवं वीर संघ की ये योजनाएँ आप लोगों पर आधारित हैं । इसलिए आपको इन संघों की सदस्यता के रूप में भगवान महावीर के सन्देश को घर-घर पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिए । भगवान महावीर की केवल जय बोलने से कार्य नहीं चलेगा । पूज्य जवाहराचार्यजी म. एक दृष्टान्त सुनाया करते थे ।

किसी गाँव में सेठ मोतीलालजी रहते थे । उनके एक बड़ी

और एक छोटी दो पत्नियाँ थीं । बड़ी पत्नि सेठजी के नाम की माला फिराया करती थी ।

एक बार सेठ मोतीलालजी कहीं बाहर से आए । ज्येष्ठ का महिना था, भीषण गर्मी और दोपहर का समय था । मोतीलालजी गर्मी एवं यात्रा की थकान से हैरान हो गए थे । प्यास के मारे प्राण निकल रहे थे । घर के दरवाजे पर आते ही सेठजी ने आवाज लगाई- 'मेरा गला सूख रहा है, जल्दी पानी पिलाओ ।' ये शब्द दोनों पत्नियों ने सुने । बड़ी पत्नि हाथ में बड़े मनकों की एक माला लेकर सेठ मोतीलालजी के नाम की माला फिरा रही थी । सेठजी की आवाज सुनते ही उसने माला के शब्दों का उच्चारण तेज कर दिया । यद्यपि वह दरवाजे के पास ही बैठी थी । सेठजी को गर्मी से घबराते हुए भी देखा, लेकिन पानी लाने के लिए खड़ी नहीं हुई । सेठजी मुँह से बोलने की स्थिति में भी नहीं थे । इसलिए बड़ी पत्नि को हाथ से पानी पिलाने का इशारा भी किया ।

बड़ी पत्नि ने उत्तर दिया- 'आप विचार नहीं करते कि मैं क्या कर रही हूँ ? मैं आपके नाम की ही तो माला फिरा रही हूँ । आप मेरी माला में क्यों बाधा उत्पन्न करते हैं ? अन्दर आकर पानी पी क्यों नहीं लेते ?' बड़ी पत्नि यह बात कह ही रही थी कि इतने में छोटी पत्नि ने तत्काल उठकर ठण्डे पानी का लोठा भरकर सेठजी के सामने प्रस्तुत कर दिया । सेठजी ने पानी पीकर अत्यन्त सुख एवं शान्ति का अनुभव किया ।

हम सब चिन्तन करें कि सेठ मोतीलालजी दोनों पत्नियों में से किस पर अधिक प्रसन्न होंगे ? स्पष्ट है कि छोटी पत्नी ही उन्हें अधिक प्रिय होगी । आपसे भी यही कहना है कि भगवान् महावीर की मात्र जय बोलने से कार्य चलने वाला नहीं है । उनके उपदेशों की पालना करना, उपदेशों को जन-जन तक पहुँचाने का प्रयत्न करना होगा, तब ही आप भगवान् महावीर के सच्चे भक्त कहलायेंगे ।

अन्त में यही कहना है कि हम सभी अपनी-अपनी शक्ति एवं अनुकूलता के अनुसार नियमित रूप से स्वाध्याय करें । कवि भी प्रार्थना की कड़ियों में यही कहता है कि यह अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ है जिसे सफल करें ।

नरत्वेऽपि पशुयंते, मिथ्यात्व ग्रस्तचेतसः ।
पशुत्वेपि नरायन्ते, सम्यक्त्व ग्रस्तचेतनाः ॥

भावार्थ- मिथ्यादृष्टि जीव मनुष्य होकर भी पशु के समान हैं तथा सम्यक्त्व से विभूषित पशु भी मनुष्य के समान हैं ।

हस्ते पात्रं दधानाश्च, तुण्डे वस्त्रस्य धारकाः ।
मलिनान्येव वासासि, धारयन्त्यल्पभाषिणः ॥

भावार्थ- हाथ में पात्र, मुख पर वस्त्र धारण करने वाले, शरीर पर मलिन वस्त्र धारण करने वाले और थोड़ा बोलने वाले जैन मुनि होते हैं ।

दर्शन वर्त्म वीराणां, सुरासुरनमस्कृतः ।
नीति त्रय कर्ता यो, युगादौ प्रथमो जिनः ॥

भावार्थ- वीर पुरुषों को मार्ग बतलाने वाले, देवों और दानवों द्वारा नमस्कार किये हुए, युग की आदि में तीन प्रकार की नीतिके स्थापन्नकर्ता पहले जिन (ऋषभदेव) हुए।

ॐ त्रैलोक्य प्रतिष्ठितानां, चतुर्विंशति तीर्थंकराणाम् ।
ऋषभादि वर्द्धमानान्तानां, सिद्धानां शरणं प्रपद्ये ॥

भावार्थ- ऋषभदेव से वर्द्धमान पर्यन्त जो चौबीस तीर्थंकर तीन लोक में प्रतिष्ठित हैं ऐसे सिद्धों की मैं शरण ग्रहण करता हूँ ।

कषाय-विजय

आत्मा का विभाव परिणाम, विपरीत परिणति कषाय है । कषाय से आत्मा विकृत होती है। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष ये कषाय हैं । इनसे आत्मा स्वरूप का त्यागकर पथभ्रष्ट होती है । कषाय से आत्मा का पतन होता है । अनादिकाल से आत्मा के संसार परिभ्रमण का मूल कारण कषाय है । अतः इसका त्याग कर मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होना चाहिये ।

सुज्ञानी जीवा भजले रे जिन इकवीसमो रे ॥
भजन किया भव-भावना दुष्कृत, दुःख दुर्भाग्य मिट जावे ।
काम क्रोध मद मत्सर तृष्णा, दुर्गति निकट न आवे रे ॥ सु.

वर्तमान अवसर्पिणी काल के 21 वें तीर्थङ्कर भगवान् नेमिनाथ की प्रार्थना की कुछ कड़ियों का उच्चारण किया गया है । भक्त कवि विनयचन्दजी स्वयं को सम्बोधित करते हुए संसारी जीवों को प्रभु भजन करने की प्रेरणा देते हैं । वे कहते हैं कि है सुज्ञानी जीव ! इक्कीसवें तीर्थङ्कर भगवान् नेमिनाथ का भजन कर ले । उन्होंने जीव के सुज्ञानी विशेषण लगाया है । वास्तव में जो सुज्ञानी होगा, जिसका ज्ञान निर्मल होगा, वही वीतराग प्रभु की सच्ची प्रार्थना कर सकेगा । भगवान् के भजन में अपार शक्ति है । कवि कहता है कि प्रभु का भजन करने से भव-भवान्तर के कष्ट दूर हो जाते हैं, दुर्भाग्य सौभाग्य में बदल जाता है । दुःख के मूल कारण- क्रोध, मान, माया, लोभ, काम, मत्सर आदि हैं और प्रभु की भक्ति करने से ये दुर्गुण आत्मा से अलग हो जाते हैं, दूर हो जाते हैं ।

कषाय–

राग-द्वेष, कषाय आदि आत्मा के प्रमुख शत्रु हैं, मोक्ष में बाधक हैं । इसलिए इस विषय को ध्यान से समझने का प्रसंग है ।

रागो य दोसो वि य कम्म वीयं,
कम्म च मोहप्प भवं वयंति ।
कम्म च जाइ मरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाइ मरणं दयंति ॥

(उत्तराध्ययन सूत्र अ. 32 गा. 7)

अर्थात् राग-द्वेष कर्म के मूल कारण हैं और कर्म मोह से उत्पन्न होता है । कर्म जन्म-मृत्यु का मूल हेतु है और जन्म-मृत्यु ही दुःख है ।

कषाय का अर्थ–

कषाय का सामान्य अर्थ है, आत्मा की विभाव दशा, आत्मा की विपरीत परिणति । कष=संसार की, तथा आय=वृद्धि । अर्थात् जिससे संसार की अभिवृद्धि हो, जिससे आत्मा का पतन हो, आत्मा अपने स्वभाव को छोड़कर विभाव की दशा में परिणमन करे, उसे कषाय कहते हैं । जिस प्रकार पीतल के पात्र में रखा हुआ दही विकृत हो जाता है, विषाक्त हो जाता है, अपना स्वभाव परिवर्तित कर देता है, उसी प्रकार जिनके संयोग से यह आत्मा अपने स्वभाव का त्याग कर विभाव दशा में परिणमन करे, नरकादि चतुर्गति में परिभ्रमण करे, आत्मा के निज गुण नष्ट हों तथा मुक्ति को न प्राप्त कर सके उसे कषाय कहते हैं । अनादिकाल से आत्मा को इन कषायों ने दबोच रखा है ।

कषाय के भेद–

कषाय के मुख्य चार भेद हैं- 1. क्रोध 2. मान 3. माया 4. लोभ । प्रकारान्तर से कषाय के 16 भेद हैं तथा 25 भेद भी हैं । उपरोक्त चारों कषायों के चार-चार भेद होने से 16 भेद भी कहे गये हैं ।

1. अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ।
2. अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ ।
3. प्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ ।
4. संज्ज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ।

इस प्रकार 16 भेद हुए । नव प्रकार के नौ कषायों को जोड़ने पर 25 भेद हो जाते हैं । नौ कषाय निम्न है-

1. हास्य 2. भय 3. शौक 4. जुगुप्सा 5. रति 6. अरति 7. स्त्री वेद 8. पुरुष वेद 9. नपुंसक वेद । ये कषाय की अभिवृद्धि में सहायक हैं ।

क्रोध-

कषाय का प्रथम भेद क्रोध है । क्रोध के कारण आत्मा आवेश में आ जाती है, अशान्त एवं तप्त हो जाती है तथा क्रूर स्वभाव वाली बन जाती है । क्रोधी व्यक्ति अपने हिताहित का भान भूल जाता है, विवेक खो बैठता है तथा स्व-पर का नाश करने को तैयार हो जाता है । क्रोध भयङ्कर अग्नि है । जिसमें क्रोधी स्वयं भी जलता है तथा दूसरों को भी जलाता है । कहा है-

'संपज्जलिया घोरा अग्गी चिट्ठई गोयमा ।'

(उत्तराध्ययन अ. 23)

अर्थात् हे गौतम ! हृदय में जलती हुई अग्नि विद्यमान है । यह अग्नि क्या है ? यह क्रोध रूपी अग्नि है । इस अग्नि के प्रभाव से आत्मा के सद्‌गुण- समता, क्षमा, दया, सन्तोष आदि जलकर नष्ट हो जाते हैं । क्रोध से प्रेम नष्ट हो जाता है । कहा भी गया है-

'कोहो पीयं पणासेह'

अर्थात् क्रोध प्रीति का नाश करता है ।

(दशवैकालिक सूत्र)

क्रोधी व्यक्ति विवेक खो देता है तथा क्रोध के आवेश में अपनी प्रिय वस्तु को भी नष्ट कर देता है, यहाँ तक कि आत्महत्या भी कर डालता है । क्रोध में व्यक्ति अन्धा हो जाता है ।

क्रोध विष है-

क्रोध को विष की उपमा दी गई है । क्रोध के समय व्यक्ति अपना सन्तुलन खो बैठता है । पाश्चात्य विद्वान् सोल का कथन है कि-

Anger blows out the lamp of mind.

अर्थात् क्रोध मस्तिष्क के दीपक को बुझा देता है । जब मन मस्तिष्क ही कार्य नहीं करता तो उसका स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है । क्रोध के कारण मन:स्थिति विकृति हो जाती है, जिससे

भोजन की पाचन क्रिया ठीक नहीं होती, रस ठीक नहीं बनता और स्वास्थ्य गिर जाता है । कई प्रकार के रोग हो जाते हैं ।

क्रोध के समय आँखें एवं मुँह लाल हो जाता ह। क्रोधी व्यक्ति का मुँह खुल जाता है और आँखें बन्द हो जाती है । अंग्रेजी में कहा है- An angery man shuts his eyes and opens his mouth. ये सब क्रोध के परिणाम हैं । कवि ने कहा है-

गुस्से से तन दुर्बल बनता, लोही विषमय बन जाता ।
तेज चला जाता आँखों का, ज्ञान रहित मन बन जाता ॥
अकल न जाने कहाँ जाती है, ज्ञानी और गंवार की ।
सुनलो जैनों कान लगाकर, वाणी तारणहार की ॥

इस प्रकार क्रोध का जीवन पर विष के समान भयङ्कर प्रभाव होता है । वैज्ञानिक परीक्षण से ज्ञात हुआ है कि यदि माता क्रोध के आवेश में अपने बच्चे को स्तनपान कराती है तो बच्चे के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है । क्योंकि शरीर में विष व्याप्त होने की सम्भावना है ।

क्रोध चाण्डाल के रूप में-

ज्ञानियों ने क्रोध को चाण्डाल कहा है । क्रोध के आवेश में मानव, दानव बन जाता है । कुलहीन, चाण्डाल की तरह व्यवहार करता है । किसी कवि ने भी कहा है-

क्रोधी महा चाण्डाल, आँख्या करदे राती ।
क्रोधी महा चाण्डाल, थर-थर ध्रुजावे छाती ॥
क्रोधी महा चाण्डाल, थाली गणे न कुण्डो ।
क्रोधी महा चाण्डाल, जाय नरक में उण्डो ॥

एक बार एक पण्डितजी नदी पर स्नान करके किनारे पर खड़े-खडे प्रभु का ध्यान कर रहे थे । थोड़ी दूर पर एक चाण्डाल कुल का व्यक्ति भी नहा रहा था । असावधानी के कारण पानी के दो-चार छींटे पण्डितजी के लग गये । पण्डितजी का ध्यान भंग हो

गया और उन्हें क्रोध आया । आव देखा न ताव, पण्डितजी ने चाण्डाल को पीटना आरम्भ कर दिया । पीटने के बाद पण्डितजी को ध्यान आया कि वे चाण्डाल के स्पर्श से अपवित्र हो गये हैं । इसलिए उन्होंने पुनः नदी में स्नान किया ।

पण्डितजी के नहाने के बाद चाण्डाल ने भी पुनः स्नान किया । पण्डितजी ने चाण्डाल को ललकारा कि तूने पुनः स्नान क्यों किया । क्या मेरे स्पर्श से अपवित्र हो गया । चाण्डाल ने नम्रता से कहा- पण्डितजी ! क्षमा करें, आप तो पण्डित हैं, पवित्र हैं । लेकिन जब आपने मुझे पीटा तब क्रोध रूपी महा चाण्डाल आपमें प्रवेश कर गया जिससे मैं अपवित्र हो गया, अतः पुनः स्नान किया ।

क्रोध बुद्धिमान को बुद्धिहीन बना देता है, कुलवान को कुलहीन बना देता है, भले को बुरा बना देता है । अतः क्रोध को चाण्डाल कहा है । क्रोध दुर्गति का कारण है ।

एक बार दो भाईयों में झगड़ा हो गया । दोनों अलग-अलग रहने लगे । संयोग से बड़े भाई की आर्थिक स्थिति गिर गई तथा छोटे भाई की स्थिति अच्छी हो गई । इनकी माता छोटे भाई के साथ रहती थी ।

बड़े भाई की स्थिति ऐसी हो गई कि भोजन के भी लाले पड़ने लगे । परिवार में पाँच सदस्य थे- दोनों पति-पत्नी एवं तीन बच्चे । बड़ी कठिनाई से जीवन यापन करते । पति-पत्नी को कभी-कभी भूखा ही सोना पड़ता । लेकिन छोटे भाई के मन में बड़े भाई के प्रति सहानुभूति का अभाव था ।

एक दिन का प्रसंग था कि घर में भोजन सामग्री बिल्कुल नहीं रही । पति-पत्नी ने रात को भी भोजन नहीं किया । प्रातः होते ही पति भोजन की सामग्री के लिए घर से निकल गया । सोचा- कहीं थोड़ा उधार लाकर बच्चों को तो खिलाया ही जावे । दिन

चढ़ता गया पर कहीं कुछ व्यवस्था नहीं बन पायी । उधर पति प्रयत्नशील था इधर पत्नी प्रतीक्षा में थी कि पतिदेव कुछ ले आवें तो भोजन बनाया जावे । लेकिन नन्हें-मुन्ने बच्चे भूख से रोते बिलखने लगे । माँ का हृदय पसीज गया और मन मार कर अपने देवर के घर पहुँच गई । देवर घर पर नहीं थे अतः सासूजी से सारी बात कह दी । सास को दया आ गई । उसने थोड़ा सा आटा बड़े पुत्र की पत्नी को दे दिया । छोटी बहू को यह बात अच्छी नहीं लगी । आटा लेकर बड़े भाई की पत्नी घर आयी तथा भोजन की तैयारी की । कुल चार-पाँच रोटी का आटा था अतः विचार किया बच्चों को तो कुछ दे दिया जाय । बच्चे निरन्तर रोटी की मांग कर रहे थे ।

उधर थोड़ी देर बाद छोटा भाई जब घर पर आया तो उसकी पत्नी ने सासूजी द्वारा जेठानी को आटा देने की सारी बात सुनायी ।

छोटे भाई को बहुत क्रोध आया । उसने अपनी माँ को भी भला-बुरा कहा । माँ ने समझाया कि तेरा ही तो भाई है । क्रोध में हित की बात भी बुरी लगती है, अतः माँ के समझाने पर उसका प्रभाव विपरीत हुआ और आवेश में वह बड़े भाई के घर पहुँच गया।

बड़े भाई के घर पर दृश्य कुछ विचित्र ही था । बड़े भाई की पत्नी रोटियाँ बना रही थी । एक रोटी सिक गई थी जिसे एक थाली में लेकर तीनों बच्चे खाने के लिए ठण्डी कर रहे थे, दूसरी रोटी तवे में सिक रही थी, तीसरी चकले पर तैयार हो रही थी तथा एक-दो रोटी का गीला आटा परात में था । बच्चों को लम्बी प्रतीक्षा के बाद रोटी के दर्शन हुए तो वे प्रसन्न हुए ।

छोटे भाई ने आव देखा न ताव, घर में घुस कर थाली की रोटी बच्चों के मुँह से छीन ली, तवे व चकले की रोटी भी उठा ली तथा परात का गीला आटा भी उठा लाया और घर के बाहर आकर कुत्तों को डाल दिया । बड़े भाई की पत्नी अचानक यह

दृश्य देखकर सहम गई । छोटा भाई यह कहता हुआ चला गया कि इन रोटियों को कुत्ते खा सकते हैं परन्तु मेरे भाई का परिवार नहीं खा सकता । गालियाँ देता हुआ क्रोध में वह वापस अपने घर पहुँचा ।

बच्चे मुँह का कोर छिन जाने से तथा भूख से व्याकुल होने से रो पड़े । बच्चे कहने लगे कि- चाचाजी हमें जोरों से भूख लग रही है, हमें रोटी खाने दो । पर चाचाजी तो क्रोध रूपी चाण्डाल के वश अन्धे हो गये थे । बच्चे रोने-चिल्लाने लगे । माँ (बड़े भाई की पत्नी) यह दृश्य देखकर फूट-फूट कर रोने लगी ।

थोड़ी देर में बड़े भाई की पत्नी को कुछ विचार उत्पन्न हुआ । उसने तीनों बच्चों को साथ लिया तथा उन्हें लेकर गाँव के बाहर चल दी । बच्चों के पूछने पर उसने कहा कि चलो रोटी खिलाती हूँ । तीनों बच्चों को लेकर यह अभागिन माता गाँव के बाहर, कुए पर गई । बच्चों को कुए पर बिठाया तथा उनसे कहा कि मैं कुए में से रोटी लाती हूँ तुम यहीं बैठना और वह कुए में कूद जाती है ।

उधर काफी दौड़ धूप करने पर भी बड़े भाई के कुछ हाथ न लगा तो वह निराश होकर घर लौटा । घर खुला पड़ा था और अन्दर कोई नहीं था । आस-पड़ौस में पूछने पर छोटे भाई के दुर्व्यवहार की जानकारी हुई तथा पत्नी के तीनों बच्चों के साथ गाँव के बाहर जाने की जानकारी मिली । वह भी शीघ्रता से उनकी खोज में उसी दिशा में चल पड़ा । खोजते हुए कुए पर पहुँचा तो बाहर बच्चों को रोते हुए बैठे पाया । बच्चों को माँ के लिए पूछा । बड़े बच्चे ने कहा कि माँ कुए में से रोटी लेने गई है सो अभी तक आई नहीं है । बड़ा भाई सारी स्थिति समझ गया । उससे भी न रहा गया । वह भी अपने तीनों पुत्रों को लेकर कुए में कूद गया । पाँचों प्राणियों ने प्राण त्याग दिये ।

यह बहुत मार्मिक उदाहरण है । आप सबको इस उदाहरण के माध्यम से यह कहना है कि क्रोध के आवेश में मानव, दानव बन जाता है । छोटे भाई के क्रोध के कारण ही यह स्थिति बनी । गाँव के सभी लोगों ने छोटे भाई को बहुत धिक्कारा । इस दुर्घटना से छोटे भाई का हृदय भी बदल (दहल) गया, उसे अत्यन्त दुःख हुआ । यदि छोटा भाई क्रोध के आवेश में न आता तो ऐसी स्थिति क्यों बनती ? शास्त्रों में भी कहा है कि क्रोध प्रीति का नाश करता है ।

क्रोध क्यों आता है ?

क्या आपने कभी विचार किया है कि दूसरों पर क्रोध क्यों आता है ? कुछ और कारण भी हो सकता है, परन्तु मुख्य कारण यह है कि व्यक्ति दूसरों के दोष देखता है, उनकी त्रुटियाँ देखता, उससे क्रोध उत्पन्न होता है । यदि व्यक्ति अपने दोषों के देखना प्रारम्भ कर दे, क्रोध के प्रसंग पर क्षमा धारण करले, तो क्रोध रूक सकता है । समझ लीजिये- आपका नौकर खाना बना रहा है, रसोई घर में तेल का डिब्बा नीचे फर्श पर एक ओर रखा हुआ है । आप किसी कार्य से शीघ्रता से रसोई घर में गये और असावधानी के कारण डिब्बे को ठोकर लग गई और तेल रसोई घर में फैल गया । आपको नौकर पर क्रोध आ जावेगा । आप कहेंगे- काम करना नहीं आता, डिब्बा यहाँ रख दिया । यह क्या डिब्बा रखने का स्थान है ? आदि । लेकिन कभी ऐसा अवसर आवे कि आपने पेन में स्याही भरी और स्याही की दवात कमरे के बीचोंबीच मार्ग में छोड़ दी । संयोग से वही नौकर कमरे में आपसे कुछ पूछने आवे और उसके पैर से दवात को ठोकर लग जावे, स्याही फर्श पर फैल जावे तो आप क्या करेंगे ? मैं सोचता हूँ कि आपको नौकर पर क्रोध आ जावेगा तथा आप कहेंगे- अन्धों की तरह चलता है, दीखता नहीं है कि दवात पड़ी है, मूर्ख कहीं का ! आदि ।

अपना दोष ढूँढें-

अब आप चिन्तन करें, विचार करें कि आपका उक्त व्यावहार उचित है । दोनों परिस्थितियों में आपने अपना दोष नौकर पर मढ़ने का प्रयत्न किया । पहली परिस्थिति में आप स्वयं बिना देखे असावधानी से चल रहे थे, फिर भी अपना दोष दिखाई नहीं दिया । दूसरी परिस्थिति में आपने दवात मार्ग में रखी है जो अनुचित है । लेकिन आप सोचते हैं कि आप सेठ हैं और नौकर तो आपका बेचारा नौकर ही है । यदि नौकर के स्थान पर आपका पुत्र या परिवार का अन्य सदस्य होता तो आप दोषी उसी को बताते । हो सकता है, मोहवश क्रोध कम आवे ।

तात्पर्य यह है कि यदि व्यक्ति दूसरों के दोष देखने के बजाय स्वयं के दोष देखे तो सम्भवतः क्रोध उत्पन्न ही न हो । क्रोध का प्रसंग उपस्थित होने पर क्षमा धारण करे तो क्रोध से बचा जा सकता है । शान्ति क्रोध का अमोघ उपचार है । तेल के डिब्बे को ठोकर लगने पर यदि आप यह सोचते हैं कि देखकर चलना चाहिये, तो आपको क्रोध नहीं आयेगा ।

जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि-

क्रोध से बचने के लिए दोष दृष्टि का त्याग कर गुण दृष्टि को अपनाया जावे । धर्मराज युधिष्ठिर और दुर्योधन में सबसे बड़ा अन्तर दृष्टिकोण का था । धर्मराज सदैव स्वयं की ओर देखते थे, अपने दोष ढूँढते थे, परन्तु दुर्योधन ठीक विपरीत प्रकृति का था ।

एक बार श्री कृष्ण ने युधिष्ठिर से नगर के बुरे लोगों की सूचि तैयार करने के लिए कहा और कुछ सप्ताह का समय दे दिया । दुर्योधन भी वहीं उपस्थित थे । उन्हें भले लोगों की सूचि तैयार करने को कहा गया ।

निश्चित अवधि की समाप्ति पर दोनों ही श्री कृष्ण के पास उपस्थित हुए । कृष्ण ने पहले दुर्योधन से भले व्यक्तियों की सूचि

प्रस्तुत करने को कहा तो दुर्योधन ने कहा- 'महाराज! आप कैसी बात करते हैं ? मैं तो बहुत फिरा, लेकिन मुझे तो संसार में कहीं भी भले व्यक्ति नजर नहीं आये । जहाँ गया वहाँ गुण्डे, बदमाश, चोर, अत्याचारी ही दिखाई दिये । इसलिए मैंने यह सोचा कि दुनिया में भले व्यक्ति नहीं है ।'

फिर कृष्ण ने युधिष्ठिर से अपनी सूचि प्रस्तुत करने को कहा । युधिष्ठिर ने कहा- 'महाराज ! दुनिया में मुझ से बुरा व्यक्ति कोई नहीं है । मैंने आपके आदेशानुसार बुरे व्यक्ति खोजने का प्रयत्न किया और मुझसे उनकी तुलना की तो मुझे अनुभव हुआ कि संसार में सभी भले व्यक्ति हैं । मुझसे सभी अधिक अच्छे हैं इसलिए मेरी सूचि रिक्त है ।

श्री कृष्ण ने कहा कि मुझे आप दोनों से ऐसी ही आशा थी । क्योंकि जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि । अच्छे व्यक्ति को सभी अच्छे ही दिखाई देते हैं । इसलिए अपने दोषों को और दूसरों के गुणों को देखना चाहिये । तात्पर्य यह है कि यदि क्रोध को छोड़ना है तो अपने दोष ढूँढें ।

क्रोध का वर्गीकरण-

क्रोध चार प्रकार का कहा गया है-

1. अनन्तानुबन्धी क्रोध

ऐसा भयङ्कर क्रोध, जो जीवन पर्यन्त बना रहे, वैर का रूप धारण कर लेवे, कभी समाप्त न हो । इससे अनन्त संसार की अभिवृद्धि होती है । यह आत्मा के सम्यक्त्व गुण को नष्ट कर देता है । जिस प्रकार पर्वत के फटने पर उसमें पड़ी हुई दरार कभी नहीं मिटती, उसी प्रकार यह क्रोध भी जीवन पर्यन्त समाप्त नहीं होता है ।

2. अप्रत्याख्यानी क्रोध

अनन्तानुबन्धी से यह क्रोध हल्का होता है । यह क्रोध एक

वर्ष तक रह सकता है । जिस प्रकार तालाब के सूख जाने पर उसमें पड़ी हुई दरार वर्षा होने पर मिट जाती है, उसी प्रकार महापुरुषों के उपदेश से, संवत्सरी महापर्व के आगमन पर ऐसा क्रोध नष्ट हो जाता है । इस क्रोध का स्वामी श्रावक-व्रत, त्याग प्रत्याख्यान आदि ग्रहण नहीं कर सकता ।

3. प्रत्याख्यानी क्रोध

यह क्रोध अप्रत्याख्यानी से भी हल्का होता है । जिस प्रकार बालू रेत में खींची हुई लकीर हवा के तीव्र झोंके से ही मिट जाती है, उसी प्रकार यह क्रोध भी साधारण प्रयास से नष्ट हो जाता है । यह क्रोध चार माह से अधिक नहीं ठहरता तथा साधुत्व गुण को प्रकट नहीं हाने देता ।

4. संज्ज्वलन क्रोध

यह सबसे मन्द क्रोध है । जिस प्रकार पानी में खींची गई लकीर तत्काल मिट जाती है, वैसे ही यह क्रोध भी शीघ्र शान्त हो जाता है । यह क्रोध यथाख्यात् चारित्र, केवलज्ञान प्रकट होने में बाधक है ।

क्रोध पर क्षमा से विजय प्राप्त की जा सकती है ।

'उवसमेण हणे कोहं'

(दशवैकालिक सूत्र 8/39)

अर्थात् उपशम- शान्त भाव यानि क्षमा से क्रोध नष्ट होता है । वैर से वैर नष्ट नहीं होता । खून का वस्त्र पानी में धोने से स्वच्छ होता है, रक्त में धोने से नहीं ।

मान

कषाय का दूसरा भेद मान है । मान का अर्थ है- अहङ्कार, अभिमान, घमण्ड । मान करने वाला दूसरों को हीन समझता है । जाति, कुल, धर्म आदि का अभिमान करना, अपने आपको अधिक

श्रेष्ठ समझना मान है । मान व्यक्ति को मानवता से गिरा देता है । मान से विनय नष्ट हो जाता है । सूत्र में कहा है-

'माणो विणय नासणो'

(दशवैकालिक सूत्र ८/३९)

अर्थात् मान विनय का नाश करता है । विनय के अभाव में आत्मा में कोई सद्गुण प्रकट नहीं हो सकता ।

मान पतन का कारण है । जो अभिमान करता है वह गिरता है । सन्त कबीर ने मान को कुत्ते की उपमा दी है ।

मान बड़ाई जगत में, कूकर की पहचानि ।
प्रीत किये मुख चाटती, वैर किये तन हानि ॥

बाहुबलीजी का उदाहरण-

आज के इस युग में प्रतिष्ठा की भूख बढ़ गई है । धन-दौलत, ज्ञान-चारित्र, जाति-कुल आदि का अभिमान किया जाता है । बाहुबलीजी ने अभिमान किया कि मैं अपने छोटे भाईयों को वन्दन नमस्कार कैसे करूँ । तपस्या में लीन हो गये । शरीर दुर्बल हो गया, कठोर साधना की, लेकिन मान के कारण मोह नष्ट नहीं हो रहा था, केवलज्ञान प्रकट नहीं हो रहा था । भगवान् ऋषभदेव ने केवलज्ञान से यह स्थिति जान ली और महासती ब्राह्मीजी एवं सुन्दरीजी को बाहुबलीजी के पास समझाने के लिए भेजा । दोनों साध्वियाँ बाहुबलीजी की सांसारिक बहनें थी । उन्होंने समझाया-

वीरा म्हारा, गज थकी नीचा उतरो रे ।
गज चढ़्या केवल नहीं होसी, बन्धव म्हारा ॥
गज थकी हेठा उतरो रे ॥

उन्होंने बाहुबली को संकेत दिया कि अभिमान रूपी हाथी की सवारी त्याग दो अन्यथा केवलज्ञान नहीं होगा । ज्योंहि बाहुवली ने यह समझ लिया कि अभिमान त्याग कर मुझे अपने छोटे वन्धुओं

को, जो दीक्षा में मुझसे बड़े हैं, वन्दन करने जाना है, उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया । अतः मान त्याग करना चाहिये । किसी कवि ने कहा है-

मानी के सब शत्रु बनते, कोई मित्र नहीं बनता है ।
कोई उसकी बात न माने, साथ न कोई देता है ॥
फिर भी कहता हम चौड़े, संकड़ी राह बाजार की ।
छोड़ो क्रोध, मोह, मद, माया, गलियाँ नरक द्वार की ॥

(हित की बात है)

मान के भेद-

क्रोध की तरह मान के भी चार भेद हैं ।

1. अनन्तानुबन्धी मान-

पत्थर के स्तम्भ की तरह कभी नहीं झुकने वाला अभिमान, जो टूट जावे पर झुके नहीं । यह भी जीवन पर्यन्त बना रहता है । ऐसे का सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं होता ।

2. अप्रत्याख्यानी मान-

हड्डी के स्तम्भ की तरह या हाथी दांत की तरह जो बहुत परिश्रम से एवं प्रयास द्वारा कुछ झुक सके, अभितान दूर हो सके वह अप्रत्याख्यानीमान है । स्थिति, प्रभाव आदि अन्य बातें अप्रत्याख्यानी क्रोध के समान है ।

3. प्रत्याख्यानी मान-

बेंत की लकड़ी के समान । थोड़ा सा प्रयास करने पर जो मान दूर हो जावे । अन्य बातें अप्रत्याख्यानी क्रोध के समान हैं ।

4. संज्वलन मान-

तिनके के समान जो बहुत आसानी से झुकाया जा सके अन्य बातें संज्ज्वलन क्रोध के समान हैं ।

आठ प्रकार के मद–

मद या अभिमान निम्न आठ बातों का किया जाता है- 1. जाति मद 2. कुल मद 3. लाभ मद 4.ऐश्वर्य मद 5. बल मद 6. रूप मद 7. तप मद और 8. ज्ञान मद ।

उपरोक्त आठ प्रकार के मद में से जो व्यक्ति जिसका अभिमान करता है उसको आगामी भव में उसकी ही कमी रहती है, हीनता प्राप्त होती है । जैसे जाति का मद करने से नीच जाति में जन्म होता है, यावत् ज्ञान का मद करने से ज्ञान की कमी रहती है ।

अतएव बुद्धिमान व्यक्ति मान का त्याग कर मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर होता है । अभिमान पर विजय पाने के लिए जीवन में मृदुता को अपनाएँ ।

'माणं मद्दवया जिणे'

(दशवैकालिक अ. 8)

अर्थात् मान को मृदुता से जीतें । दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि मान त्यागने से जीवन में सरलता प्राप्त होती है । गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा-

'माण विजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?'

अर्थात् हे भगवन् ! मान विजय से जीव को क्या लाभ है ?

भगवान महावीर ने कहा-

'माणं विजएणं मद्दवं जणयइ, माण वेयणिज्जं कम्मं न बंधई, पुव्व बद्धं च निज्जरेई ।'

अर्थात् मान पर विजय प्राप्त करने से मृदुता प्राप्त होती है, नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता तथा पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा होती है ।

माया–

तीसरा कषाय माया है । छल, कपट, प्रपंच, धोखा आदि माया के अन्तर्गत आते हैं । माया से मित्रता नष्ट होती है ।

'माया मित्ताणि नासेई'

(दशवैकालिक अ. 8)

माया करने वाले व्यक्ति का कोई विश्वास नहीं करता, सभी उसकी निन्दा करते हैं । कहा भी है- 'माया वशेन मनुजो जन निन्दनीयः' अर्थात् माया करने वाला व्यक्ति जन साधारण के लिए निन्दा का पात्र बनता है ।

माया करने वाले व्यक्ति के कथनी और करनी में बहुत अन्तर होता है । वह कहता कुछ है और आचरण भिन्न होता है एवं मन में भिन्न प्रकार के विचार होते हैं । इस प्रकार जीवन में वक्रता होती है । जहाँ वक्रता है वहाँ सम्यक्त्व गुण नहीं पाया जाता है । इसलिए मायावी मिथ्यादृष्टि होता है । शास्त्रकार का भी कहना है-

'माई मिच्छादिट्ठी अमाई समदिट्ठि'

अर्थात् मायावी मिथ्यादृष्टि होता है और माया रहित सम्यग्दृष्टि होता है । इस प्रकार माया दुर्गति का कारण है । मायावी व्यक्ति सदैव दूसरों को अपने माया जाल में उलझाना चाहता है, दुसरों का अहित करता है, अपने स्वार्थ के कारण दूसरों को हानि पहुंचाना चाहता है; परन्तु वह स्वयं का ही अहित करता है । मकड़ी जाल बुनकर अन्य जीवों को उसमें उलझाना चाहती है, परन्तु स्वयं ही उसमें उलझकर प्राण दे देती है । कवि ने कहा है-

औरों के लिए जाल बिछाता, मगर वही उसमें फँसता ।
औरों के लिए खड्डा खोदे, मगर वही [illegible] ।

सच कहता हूँ जग में माया, जननी दुःख अपार की ।
सुनलो जैनों कान लगाकर, वाणी तारनहार की ।
छोड़ो क्रोध, मोह, मद, माया, गलियाँ नरक द्वार की ।

अतः माया दुःख एवं दुर्गति का कारण है ।

माया के भेद-

क्रोध एवं मान की तरह माया के भी चार भेद हैं-

1. अनन्तानुबन्धी माया-

बांस की जड़ों का टेढ़ापन जिस प्रकार कभी भी समाप्त नहीं होता उसी प्रकार ऐसी माया कभी समाप्त नहीं होती । अन्य बातें क्रोध के समान हैं ।

2. अप्रत्याख्यानी माया-

गेंडे की सींग की तरह जो बहुत परिश्रम से समाप्त हो अथवा जो अनन्तानुबन्धी से कम कपट युक्त हो, कम टेढ़ी-मेढ़ी हो लेकिन फिर भी बहुत मायामय हो ।

3. प्रत्याख्यानी माया-

चलते हुए बैल के मूत्रधारा से बनी रेखा की तरह जो कम टेढ़ी-मेढ़ी हो, अल्प कपट युक्त हो, आसानी से दूर हो जाती हो ।

4. संज्ज्वलन माया-

बांस की छाल की तरह जो केवल गांठ के अलावा सीधी होती है, ऐसी अत्यन्त सूक्ष्म एवं सरलता से दूर होने वाली हो । अन्य बातें क्रोध एवं मान की तरह समझ लें ।

आजकल माया का भी अधिक प्रसार हो रहा है । लोग माया करके अपने आपको अधिक चतुर समझते हैं । एक असत्य को छिपाने के लिए कई असत्य बोल देते हैं । परन्तु यह अच्छी बात नहीं है । ऐसे व्यक्ति समाज के लिए घातक हैं, तथा उनका समाज में कोई विश्वास नहीं करता । माया को सरलता के द्वारा जीता जा सकता है-

'मायं अज्जव भावेण'

(दशवैकालिक अ. 8/39)

सरलता से उच्च नाम कर्म का बन्ध होता है तथा माया से तिर्यञ्च, स्त्री, नपुंसक आदि का बन्ध होता है ।

लोभ-

अन्तिम और सबसे प्रबल कषाय लोभ है । जहाँ क्रोध प्रीति का, मान विनय का और माया मित्रता का नाश करते हैं, वहाँ लोभ सभी सद्गुणों को नष्ट कर देता है ।

'लोहो सव्व विणासणो'

(दशवैकालिक 8/38)

अर्थात् लोभ सभी गुणों का नाश करता है । लोभी व्यक्ति अपने स्वार्थ के वश दूसरों का बड़ा से बड़ा अहित करने को तत्पर हो जाता है । ऐसा व्यक्ति महान अत्याचारी होता है । उसमें सभी अवगुण आ जाते हैं । वह अपने कर्तव्य का, आत्म सम्मान का तथा दया एवं प्रेम का परित्याग कर देता है । किसी कवि ने कहा है-

पूज्य पिता से लड़ता लोभी, भाई की हत्या करता ।
केवल नश्वर धन के खातिर, दुनिया में दंगा करता ।
लोभ पाप का बाप, न करता परवाह अत्याचार की ।
सुनलो जैनों कान लगाकर, वाणी तारणहार की ।
छोड़ो क्रोध, लोभ, मद, माया, गलियाँ नरक द्वार की ।

(हित की वात है-2)

अत: लोभ सबसे भयङ्कर पाप है, तीव्र कषाय है । ज्ञानियों ने लोभ को पाप का बाप कहा है ।

लोभ पाप का बाप-

एक बार एक व्यक्ति विद्याभ्यास हेतु काशी (वाराणसी) गया । बड़े-बड़े विद्वानों के पास रहकर शास्त्रों का अध्ययन किया,

ज्ञान अर्जन किया एवं अनेक विषयों का अभ्यास किया। कई वर्षों तक कठोर परिश्रम कर पण्डित बन जाने के बाद वह अपने घर आया। उसे अपने पाण्डित्य पर बड़ा गर्व था। घर आने पर पण्डितजी को पत्नी ने कहा कि आप काशी से पण्डित बनकर आ गये, पर मुझे यह बताओ कि पाप का बाप कौन है ?

पण्डितजी विचार में पड़ गये। उन्होंने यह तो कभी नहीं पढ़ा था। सभी पौथियों के पन्ने पलट लिये, धर्म ग्रन्थों को खोज लिया परन्तु उन्हें पाप का बाप कहीं नहीं मिला। पण्डितजी हैरान थे, विचार किया कि अध्ययन में कमी रह गई। अतः एक बार पुनः अध्ययन हेतु काशी जाने की तैयारी की। आवश्यक सामग्री बान्धकर घर से चल दिये।

मार्ग में एक शहर से गुजर रहे थे। वैश्याओं के मोहल्ले से होकर जा रहे थे। एक वैश्या की दृष्टि पण्डितजी पर पड़ी। वैश्या ने सोचा पण्डितजी नवयुवक है तथा सामान भी साथ में बन्धा हुआ है, इसलिए इन्हें जाल में फँसाया जाय। वैश्या ने अपनी दासी को समझा-बुझाकर भेजा। दासी ने अत्यन्त विनय पूर्वक अपने घर चलने का निमन्त्रण दिया। पण्डितजी की बहुत प्रशंसा की तथा कहा कि आपके पधारने से हमारा मकान पवित्र हो जायेगा। अतः कृपा करें। पण्डितजी को जब यह मालूम हुआ कि वह वैश्या की दासी है तो कहा- 'छीः, छीः, मैं वैश्या के घर नहीं आ सकता। मेरा धर्म भ्रष्ट हो जायेगा।' दासी भी बुद्धिमान थी। उसने कहा- 'यदि आप मेरे घर पधारकर ही लौट जायेंगे तो मेरा घर पवित्र हो जायेगा और भेंट में पाँच स्वर्ण मुद्राएँ दूँगी।' यह कहकर दासी ने पाँच स्वर्ण मुद्राएँ पण्डितजी के सामने रखी। मुद्राएँ देखकर पण्डितजी की आँखें चौंधि[illegible]
[illegible] में पानी आ गया। चुपचाप स्वर्ण मुद्राएँ ग्रहण कर [illegible]
किसी नू-नच के दासी के पीछे हो[illegible]
।

वैश्या को सारी बात दासी ने इशारे में समझा दी । वैश्या ने बहुत आदर-सत्कार किया तथा पण्डितजी से पूछा कि वे कहाँ जा रहे हैं ? पण्डितजी ने सारी बात सच्ची-सच्ची कह दी तथा यह भी बता दिया कि वे पाप के बाप को जानने के लिए जा रहे हैं । वैश्या ने विश्वास दिलाया कि आपके प्रश्न का हल इसी शहर में मिल जाएगा । उसने विनय पूर्वक कहा- 'आप मेरे भवन में ऊपर पधार कर इसे पवित्र करने की कृपा करें, भेंट स्वरूप ये पाँच मोहरें ।' यह कहकर पाँच स्वर्ण मुद्राएँ पण्डितजी के सामने रख दीं । स्वर्ण मुद्राएँ देख कर पण्डितजी का मन पिघल गया तथा ऊपर भवन में चले गए । वैश्या ने ऊपर जाने के बाद पण्डितजी से फिर कहा कि यदि वे उसके घर पर भोजन ग्रहण करेंगे तो पाँच मोहरें और दे दूँगी ।

पण्डितजी ने कहा- 'वैश्या के घर का भोजन मैं कैसे ग्रहण कर सकता हूं । वैश्या को तो मैं छूता भी नहीं हूँ । ' वैश्या ने कहा- 'आपको भूख लगी होगी ? आप मेरे घर का भोजन ग्रहण नहीं करें तो कोई बात नहीं, मैं सारा सामान बाजार से मँगवा देती हूँ । आप स्वयं अपने हाथ से बनाकर भोजन ग्रहण करें और मुझे कृतार्थ करें । मैं भोजन के साथ दस मोहरें भेंट करूँगी ।' दस मोहरों की बात सुनकर तथा भोजन सामग्री की बात सुनकर पण्डितजी का मन बदल गया । भूख भी सता रही थी । पण्डितजी ने स्वीकृति प्रदान कर दी ।

पण्डितजी ने स्वयं चूरमा-वाटी तैयार किया और थाल में लेकर भोजन करने लगे । पण्डितजी को भोजन करने के पूर्व वैश्या ने दस स्वर्ण मुद्राएँ भेंट में दीं । पण्डितजी भोजन कर ही रहे थे कि वैश्या ने पुनः पण्डितजी से कहा- 'आप महान् पण्डित हैं, भगवान के भक्त हैं और मैं तो पामर वैश्या हूँ । आपकी कृपा से आज मेरा घर भी पवित्र हो गया । बस, अब मेरे मन में तो केवल एक इच्छा और बाकी रही है । यदि आप उसे पूरी कर दें तो मेरा कल्याण जाएगा । मेरी इच्छा है कि केवल एक कौर भोजन का मैं अपने

से आपको करा दूं । भोजन आपने स्वयं बनाया है । मैंने तो उसे छुआ भी नहीं है । मैं चम्मच से थोड़ा भोजन लेकर दूर से ही आपके मुँह में डाल दूँगी, आपका स्पर्श भी नहीं करूँगी । फिर यहाँ कोई देखने वाला भी नहीं है । इसके लिए दस स्वर्ण मुद्राएँ और भेंट में दूँगी । आप मुझ पर कृपा करें और एक कौर मेरे हाथ से खाने की स्वीकृति प्रदान करें ।'

पण्डितजी ने दस स्वर्ण मुद्राओं की बात सुनी और मन में विचार किया कि इसमें क्या हर्ज है ? यहाँ कौन देख रहा है ? फिर वैश्या तो चम्मच के द्वारा दूर से मुँह में डाल रही है । उन्होंने वैश्या को स्वीकृति प्रदान कर दी । वैश्या ने चम्मच में थोड़ा सा चूरमा लिया और पण्डितजी ने मुँह खोला । वैश्या ने पण्डितजी के मुँह में चूरमें का एक कौर डाला और दूसरे हाथ से पण्डितजी के गाल पर एक चपत लगाई तथा कहा कि- 'मिला पाप का बाप या नहीं पण्डितजी ? यह लोभ ही तो पाप का बाप है जिसने आपको वैश्या के हाथ से भोजन करने को तत्पर कर दिया ।' पण्डितजी बहुत शर्मिन्दा हुए और अपने प्रश्न का उत्तर पाकर वापस अपने घर चले गए ।

इस कथानक से यह बताना है कि लोभी व्यक्ति विवेक रहित हो जाता है । कवि ने भी कहा है कि-

काई लोभ वश अकृत्य कर-कर, मन मांही सुख पावे रे ।
लोभ पाप का बाप साफ यों, सब जग गावे रे ॥

लोभ के वशीभूत होकर आज मानव हिंसा और अत्याचार का ताण्डव नृत्य कर रहा है । भयंकर से भयंकर अत्याचारों से भी नहीं डरता है । इसलिए लोभ को सर्व विनाशक कहा है ।

लाभ से लोभ बढ़ता है-

ज्ञानियों ने कहा है कि ज्यों-ज्यों लाभ में अभिवृद्धि होती है, त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है । शास्त्रकार का कथन है कि-

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई ।
दो मास कयं कज्जं, कोडिए वि न निट्ठियं ।।

(उत्तराध्ययन अ. 8 गा. 17)

अर्थात् ज्यों-ज्यों लाभ होता है त्यों-त्यों लोभ बढ़ता है। लाभ लोभ की अभिवृद्धि का कारण है । दो माशा सोने से होने वाला कपिल का कार्य लोभ वश करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं से भी पूरा न हो सका ।

कपिल ब्राह्मण दो माशा सोने के लिए राजा के यहाँ पहुँचने हेतु मध्य रात्रि को ही निकल पड़ा । राजकीय सेवकों द्वारा चोर समझकर पकड़ लिया गया तथा राजा के सम्मुख प्रस्तुत किया गया । कपिल ने सारी बात सत्य-सत्य कह दी । राजा ने प्रसन्न होकर उसे इच्छित वरदान मांगने का वचन दिया । कपिल ने विचार करने के लिए थोड़ा समय चाहा । दो माशा सोने से उसकी तृष्णा बढ़ते-बढ़ते करोड़ों सोनैया पर जा पहुँची, फिर भी सन्तोष नहीं हुआ । सोचा कि जब मांगना ही है तो राजा का सम्पूर्ण राज्य क्यों न मांग लूँ ? फिर विचार आया कि राज्य मांग लूँगा और राजा यहीं शहर में रहेगा तो मेरे विरूद्ध विद्रोह कर पुनः राज्य छीन लेगा । इसलिए राजा के राज्य लेने के साथ ही राजा को वनवास का वरदान मांग लूँ । लेकिन विचारों ने पलटा खाया । कपिल ने सोचा कि वह कितना निम्न प्रकृति का व्यक्ति है जो महान् उपकारी राजा से राज्य मांग लेने की भावना से भी सन्तोष नहीं हुआ और फिर उसे वन में भेजने का चिन्तन किया । यह मेरी कृतघ्नता है, घोर अपराध है । ऐसा सोचकर कपिल को वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे मुनिराज हो गये । उन्होंने यह समझ लिया कि लोभ और तृष्णा का अन्त नहीं है, यह लोभ संसार में रूलाने वाला है, परिभ्रमण कराने वाला है, महान दुःख का कारण है । शास्त्रकार का भी कथन है-

सुवण्णरुप्पस्यउपव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया ।

णरस्स लुद्धस्स ण तेहिं किंचि,

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥

(उत्तराध्ययन सूत्र अ. 9 गा. 48)

अर्थात् कैलाश पर्वत के समान सोने-चाँदी के असंख्यात पर्वतों से भी लोभी का मन नहीं भर सकता । इच्छा भी आकाश के समान अन्त रहित है । अंग्रेजी विद्वान ने कहा है-

Avarice increases with the increasing pile of gold.

'स्वर्ण की वृध्दि के साथ लोभ भी बढ़ता है ।'

लोभ का अन्त तो नहीं होता है, लेकिन आयु सीमित है । अतः इच्छा पूर्ति नहीं होने से जीव दुःखी होता है । पाप का मूल लोभ है अतः इस पर नियन्त्रण आवश्यक है । सिकन्दर ने भी विश्व का धन एकत्रित करने का स्वप्न पूरा करने का विचार किया, परन्तु अन्त में समझ गया कि उसका विचार निराधार है । अपने किये पर पश्चाताप किया ।

पाश्चात्य साहित्य में राजा मिदास का उदाहरण दृष्टव्य है । उसे सोने के प्रति बहुत अनुराग था । किसी देव ने उसे शिक्षा देने के लिए वरदान दिया कि जिसे वह छू लेगा वही स्वर्ण का बन जायेगा । फिर क्या था ? सारा महल स्वर्ण का, फर्नीचर सोने का, प्रत्येक वस्तु सोने की बन गई । नाश्ता, भोजन, पानी, वस्त्र भी स्वर्ण में बदल गये । राजा भूख और प्यास से व्याकुल हो गया । खाए-पीए क्या ? भोजन को छूते ही वह स्वर्ण का बन जाता । उसकी इकलौती कन्या को उठाया लेकिन वह भी स्वर्ण की बन गई । अब तो उसके दुःख का पारावार नहीं रहा । उसने पुनः चिल्ला-चिल्लाकर देव को याद किया । देव प्रकट हुआ और राजा मिदास ने वरदान वापस लेने की प्रार्थना की । उसकी पुत्री पुनः जीवित हो गई । वह भोजन-पानी भी ग्रहण कर सका ।

लोभ के चार भेद-

1. अनन्तानुबन्धी लोभ

ऐसा भयङ्कर लोभ जो कभी न छूटे जैसे किरमिची का रंग । कपड़ा फट जाता है परन्तु किरमिची का रंग नहीं मिटता । कई लोभी व्यक्ति ऐसे विचारों के होते हैं कि चमड़ी जावे पर दमड़ी न जावे । मम्मण सेठ नगर का अत्यन्त धनी व्यक्ति था, पर था महान लोभी । उसने स्वर्ण का एक सुन्दर बैल बनाया और उस पर बहुमूल्य हीरे, रत्न, जवाहरात लगवाये एवं तलघर में सुरक्षित स्थान पर रख दिया । विचार किया कि बैल तो जोड़ी से होते हैं, अतः ऐसा ही एक बैल और तैयार कराने की चिन्ता लग गई । रात-दिन परिश्रम करता, छल-प्रपंच करता और धन एकत्रित करता ।

बरसात का मौसम, श्रावण मास की अंधियारी रात्रि थी । चारों ओर घोर अन्धकार छाया हुआ था । मूसलाधार वर्षा हुई और नदियों में पानी वेग से बहने लगा । मम्मण सेठ की नींद खुल गई। सोए-सोए विचार किया, समय नष्ट करने से क्या लाभ ? नदी में पानी के साथ जंगल से लकड़ियाँ बहकर जा रही है क्यों न उन्हें एकत्रित की जावे ? ऐसा सोचकर वर्षा का वेग कम होने पर मध्यरात्रि में घर से निकल गया । कपड़े भी उतार दिये और केवल लज्जा ढकने के लिए थोड़ा सा वस्त्र लपेट लिया । सेठ नदी पर पहुँचा और नदी में कूद गया । पानी में से लकड़ियाँ बाहर निकालने लगा । जब काफी लकड़ियाँ हो गई तो गट्ठर बान्धकर उठा लिया और घर की ओर रवाना हुआ । रास्ता राजमहल के समीप से गुजरता था । बादल गरज रहे थे, बिजली चमक रही थी, हल्की वर्षा हो रही थी । मम्मण सेठ महलों के पास से गुजर रहा था । संयोग से महारानी की नींद खुल गई । बिजली के प्रकाश में महारानी ने मम्मण सेठ को देखा और विचार किया- अहो ! इस राज्य में ऐसे दुःखी व्यक्ति भी हैं जो इस समय में अपने जीवन की

बाजी लगाकर आजीविका कमाने में लगे हैं । राजा को जगाया और अन्तरमन का दुःख कह दिया । राजा को भी खेद हुआ कि उसके राज्य में ऐसे दुःखी व्यक्ति भी रहते हैं, यह उसके लिए शर्म की बात थी । विचार किया कि ऐसे व्यक्तियों के दुःख तो दूर करना ही चाहिये । तत्काल सेवक को बुलाकर लकड़हारे के वेश में मम्मण को बुला लाने व प्रातः राज्य सभा में प्रस्तुत करने का आदेश दे दिया । ऐसा ही किया गया । मम्मण को समुचित व्यवस्था प्रदान की गई । दूसरे दिन राज्य सभा में मम्मण को प्रस्तुत किया गया ।

यह पूछने पर कि जीवन को संकट में डालकर भी वह रात्रि को लकड़ियाँ एकत्रित क्यों कर रहा था ? मम्मण ने बताया कि उसके पास एक बैल तो है लेकिन बैल की जोड़ी के लिए वैसा ही एक बैल और चाहिये । राजा ने आदेश दिया कि गौशाला में जाकर जैसा बैल चाहिये उसको दे दिया जावे । उसका कष्ट दूर किया जावे । मम्मण को बैल दिखाए गए परन्तु राजकी गौशाला का एक भी बैल मम्मण को पसन्द नहीं आया । जब यह सूचना राजा को दी गई तो राजा भी विस्मित हो गया । राजा ने मम्मण से उसका बैल दिखाने के लिए कहा । सेठ, राजा को अपने भवन पर ले गया । सेठ का विशाल भवन था । भवन के कमरों को पार कर अन्धकार के मार्ग से राजा सेठ के साथ एक तलघर में पहुँचा । तलघर में नैत्रों को चकाचौंध कर देने वाला प्रकाश राजा ने देखा और विस्मित हो गया । इस तलघर में एक रत्न जड़ित बैल को दिखाते हुए सेठ ने राजा को कहा-राजन् ! इस बैल की जोड़ी का एक ऐसा ही बैल चाहिये । राजा विचार में पड़ गया । महारानी भी दंग रह गई । साथ में आए प्रधानमन्त्री ने कहा- राजन् ! सेठ को सुखी करने की शक्ति आपमें तो क्या, देवराज इन्द्र में भी नहीं है । यदि आप अपने सम्पूर्ण राज्य-कोष को देकर एक ऐसा बैल बनवा भी देंगे तो इसे तीसरे, चौथे और क्रमशः आगे बैलों की इच्छा बनी रहेगी । अतः इसे अपना कार्य करने देवें । राजा वापस महलों में चला गया ।

ऐसा लोभ जिसका कभी अन्त न आए वह अनन्तानुबन्धी लोभ है । अन्य बातें अनन्तानुबन्धी क्रोध की भाँति ही हैं ।

2. अप्रत्याख्यानी लोभ

बैलगाड़ी के ओगन (कीट) के दाग की तरह जो अत्यन्त परिश्रम करने पर छूट सके ऐसे लोभ को अप्रत्याख्यानी लोभ कहते हैं । अन्य बातें क्रोध मान की तरह हैं ।

3. प्रत्याख्यानी लोभ

काजल के दाग की तरह जो थोड़े प्रयत्न से छूट सके । अन्य बातें प्रत्याख्यानी क्रोध की तरह हैं ।

4. संज्ज्वलन लोभ

हल्दी के रंग की तरह जो सहज ही छुट जावे वह संज्ज्वलन लोभ है । अन्य बातें संज्ज्वलन क्रोध की तरह है।

इस प्रकार लोभ पाप का मूल है, मोक्षाभिलाषियों को इसका त्याग करना चाहिये । लोभ पर विजय पाने के लिए जीवन में सन्तोष ग्रहण करना चाहिये । सन्तोष के द्वारा लोभ पर नियन्त्रण किया जाता है । किसी कवि ने कहा है-

गौधन, गजधन, वाजिधन, और रतनधन खान ।
जब आवे सन्तोषधन, सब धन धूल समान ॥

दशवैकालिक सूत्र में भी कहा गया है-

'लोभं संतोषओ जिणे'

अर्थात् लोभ को सन्तोष से जीतना चाहिये ।

क्रोध, मान, माया एवं लोभ ये चारों कषाय आत्मा के पतन के कारण हैं, संसार परिभ्रमण के कारण हैं ।

'चत्तारि ए ए ससिणा कसाया,
सिंचित मूलाइं पुणब्भवस्स ।'

(दशवैकालिक सूत्र 8/40)

अर्थात् ये चारों कषाय जन्म-मरण की जड़ का सिंचन करते हैं। ये अनन्त संसार वृद्धि का कारण हैं। महाकवि तुलसीदासजी ने कहा है-

काम क्रोध मद लोभ की, जब लो मन में खान।
तब लो पण्डित मूरखा, तुलसी एक समान॥

कषाय विद्वान व्यक्ति को भी मूर्ख बना देता है। कषाय मुक्ति के बिना संसार मुक्ति सम्भव नहीं है। अतः इसका त्याग करना चाहिये।

'चत्तरि वमे सया कसाए'

(दशवैकालिक सूत्र 8/40)

अर्थात् सदैव चारों कषायों का- क्रोध, मान, माया एवं लोभ का परित्याग करना चाहिये।

कवि ने भी प्रार्थना की कड़ियों में प्रभु की प्रार्थना करते हुए कहा है कि भगवान् की सच्चे हृदय से प्रार्थना करने पर ये कषाय- क्रोध, मान, माया, लोभ आत्मा से दूर हो जाते हैं। कवि कहता है-

समतामय जीवन हो सबका, समता हो जीवन का कर्म।
रम जावे अन्तर, बाहर में, समता का शुभ मंगल मर्म॥
समता से दिग्भ्रान्त विश्व में, आओ समता पाठ पढ़ें।
सहज सुमति से समता दर्शन पर, आओ हम सब साथ पढ़ें॥

नाहं रामो न मे वांछा, भावेषु च न मे मनः।
शान्तिमास्थातुमिच्छमि, स्वात्मन्येव जिनो यथा॥

भावार्थ- (श्रीरामचन्द्रजी ने श्रीवसिष्ठ ऋषि से कहा) मैं राम नहीं हूं, मेरी कोई अन्य इच्छा नहीं है, मैं तो जिनदेव की तरह आत्मशान्ति प्राप्त करने की इच्छा करता हूं।

अन्तगडदसा सुत्तं विवेचन

'अन्तगडदसा सुत्तं' वर्तमान काल में उपलब्ध ग्यारह अंग सूत्रों में आठवां अंग सूत्र है । अतः यह तीर्थंकर प्रभु महावीर की मूल वाणी है । तीर्थंकरों की अर्थरूप वाणी को गणधर ग्रहण कर सूत्रबद्ध करते हैं । श्वेताम्बर स्थानकवासी परंपरा में पर्युषण पर्व के पावन आठ दिवसों में अन्तगडदसा सुत्तं या अन्तकृतदशा सूत्र के वांचन की परंपरा है ।

इस सूत्र में आठ वर्ग हैं जिनमें कुल 90 अध्याय हैं । प्रत्येक अध्याय में एक महापुरुष का वर्णन है । इस सूत्र में उन 90 महापुरुषों का जीवन वृतान्त है जिन्होंने अनादि काल से चली आ रही संसार अवस्था को, जन्म-मरण की परम्परा को उसी भव में अन्त कर दिया एवं सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए । सदा-सदा के लिए संसार का अन्त करने वाले अन्तकृत आत्माओं की साधना दशा का वर्णन होने से इसे अन्तकृतदशा सूत्र कहा गया है । यह एक ऐसा कल्याणकारी कथा साहित्य है जिसके पठन-पाठन-मनन से जीवों को संसार का अन्त कर मुक्ति की ओर अग्रसर होनेकी प्रेरणा मिलती है । इसलिए पर्युषण पर्व के पावन अवसर पर इसे पढ़ा जाता है ।

इस सूत्र के प्रथम पांच वर्गों में बाइसवें तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमी के काल का वर्णन है तथा शेष तीन वर्ग में चरम तीर्थंकर भगवान महावीर के समय का वर्णन है । प्रथम वर्ग में दस, द्वितीय वर्ग में आठ, तृतीय वर्ग में तेरह, चतुर्थ वर्ग में दस, पंचम वर्ग में दस, षष्टम वर्ग में सौलह, सप्तम वर्ग में तेरह तथा अष्टम वर्ग में दस यों कुल 90 अध्याय हैं, जिनमें 90 महान आत्माओं का अत्यन्त रोचक एवं प्रेरणास्पद साधना वृत्तान्त है ।

भगवान अरिष्टनेमी के शासन के 51 तथा भगवान महावीर के शासन के 39 महान साधकों का वर्णन इस सूत्र में है । दोनों शासनकाल के 57 पुरुष एवं 33 महिला साधक हैं

अर्थात् ये चारों कषाय जन्म-मरण की जड़ का सिंचन करते हैं । ये अनन्त संसार वृद्धि का कारण हैं । महाकवि तुलसीदासजी ने कहा है-

काम क्रोध मद लोभ की, जब लो मन में खान ।
तब लो पण्डित मूरखा, तुलसी एक समान ॥

कषाय विद्वान व्यक्ति को भी मूर्ख बना देता है । कषाय मुक्ति के बिना संसार मुक्ति सम्भव नहीं है । अतः इसका त्याग करना चाहिये ।

'चत्तरि वमे सया कसाए'

(दशवैकालिक सूत्र 8/40)

अर्थात् सदैव चारों कषायों का- क्रोध, मान, माया एवं लोभ का परित्याग करना चाहिये ।

कवि ने भी प्रार्थना की कड़ियों में प्रभु की प्रार्थना करते हुए कहा है कि भगवान् की सच्चे हृदय से प्रार्थना करने पर ये कषाय- क्रोध, मान, माया, लोभ आत्मा से दूर हो जाते हैं । कवि कहता है-

समतामय जीवन हो सबका, समता हो जीवन का कर्म ।
रम जावे अन्तर, बाहर में, समता का शुभ मंगल मर्म ॥
समता से दिग्भ्रान्त विश्व में, आओ समता पाठ पढ़ें ।
सहज सुमति से समता दर्शन पर, आओ हम सब साथ पढ़ें ॥

नाहं रामो न मे वांछा, भावेषु च न मे मनः ।
शान्तिमास्थातुमिच्छमि, स्वात्मन्येव जिनो यथा॥

भावार्थ- (श्रीरामचन्द्रजी ने श्रीवसिष्ठ ऋषि से कहा) मैं राम नहीं हूं, मेरी कोई अन्य इच्छा नहीं है, मैं तो जिनदेव की तरह आत्मशान्ति प्राप्त करने की इच्छा करता हूं ।

अन्तगडदसा सुत्तं विवेचन

'अन्तगडदसा सुत्तं' वर्तमान काल में उपलब्ध ग्यारह अंग सूत्रों में आठवां अंग सूत्र है । अतः यह तीर्थंकर प्रभु महावीर की मूल वाणी है । तीर्थंकरों की अर्थरूप वाणी को गणधर ग्रहण कर सूत्रवद्ध करते हैं । श्वेताम्बर स्थानकवासी परंपरा में पर्युषण पर्व के पावन आठ दिवसों में अन्तगडदसा सुत्तं या अन्तकृतदशा सूत्र के वांचन की परंपरा है ।

इस सूत्र में आठ वर्ग हैं जिनमें कुल 90 अध्याय हैं । प्रत्येक अध्याय में एक महापुरुष का वर्णन है । इस सूत्र में उन 90 महापुरुषों का जीवन वृतान्त है जिन्होंने अनादि काल से चली आ रही संसार अवस्था को, जन्म-मरण की परम्परा को उसी भव में अन्त कर दिया एवं सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए । सदा-सदा के लिए संसार का अन्त करने वाले अन्तकृत आत्माओं की साधना दशा का वर्णन होने से इसे अन्तकृतदशा सूत्र कहा गया है । यह एक ऐसा कल्याणकारी कथा साहित्य है जिसके पठन-पाठन-मनन से जीवों को संसार का अन्त कर मुक्ति की ओर अग्रसर होनेकी प्रेरणा मिलती है । इसलिए पर्युषण पर्व के पावन अवसर पर इसे पढ़ा जाता है ।

इस सूत्र के प्रथम पांच वर्गों में बाइसवें तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमी के काल का वर्णन है तथा शेष तीन वर्ग में चरम तीर्थंकर भगवान महावीर के समय का वर्णन है । प्रथम वर्ग में दस, द्वितीय वर्ग में आठ, तृतीय वर्ग में तेरह, चतुर्थ वर्ग में दस, पंचम वर्ग में दस, षष्टम वर्ग में सौलह, सप्तम वर्ग में तेरह तथा अष्टम वर्ग में दस यों कुल 90 अध्याय हैं, जिनमें 90 महान आत्माओं का अत्यन्त रोचक एवं प्रेरणास्पद साधना वृत्तान्त है ।

भगवान अरिष्टनेमी के शासन के 51 तथा भगवान महावीर के शासन के 39 महान साधकों का वर्णन इस सूत्र में है । दोनों शासनकाल के 57 पुरुष एवं 33 महिला साधक हैं

उनमें भगवान अरिष्टनेमी के शासनवर्ती 41 पुरुष एवं 10 स्त्रियां तथा भगवान महावीर के शासनकाल के 16 पुरुष एवं 23 स्त्रियों का वर्णन है ।

तीसरे वर्ग के आठवें अध्याय में वर्णित श्री गजसुकुमाल मुनि जिस दिन दीक्षित हुए उसी दिन भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा धारण कर रात्रि के प्रथम प्रहर में मोक्ष पधार गए । छठे वर्ग के तीसरे अध्याय में वर्णित श्री अर्जुन अनगार छः माह मुनि धर्म का पालन कर 15 दिन की संलेखना अंगीकार कर सिद्ध-बुद्ध--मुक्त हो गए । शेष सभी 88 साधक 30 दिन का संथारा-संलेखना कर मुक्त हुए । 90 साधकों में से 12 साधकों ने 12 अंगों का अध्ययन किया, 66 साधकों 11 अंगों का अध्ययन किया, 10 साधक 14 पूर्वधारी बने एवं 2 साधक श्री गजसुकमाल मुनि एवं श्री अर्जुन मुनि अष्ट प्रवचन माता का अध्ययन करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन कर मुक्त हो गए ।

सबसे अल्प आयु में श्री एवन्ताकुमार ने दीक्षा ग्रहण की तथा दीर्घ काल तक संयम की आराधना की । श्री गजसुकुमाल अणगार सबसे अल्प काल में आत्मोत्थान कर मुक्त हो गए । श्री गजसुकुमाल मुनि ने अद्वितीय सहनशीलता, क्षमा एवं धैर्य धारण किया एवं श्री अर्जुन अणगार ने भी क्षमा का उच्च आदर्श प्रस्तुत किया । इन दोनों साधकों के अलावा शेष 88 साधकों ने गुणरत्न संवत्सर तप एवं भिक्षु प्रतिमाओं की आराधना की ।

सुदर्शन श्रावक की धर्म के प्रति दृढ़ता एवं शुद्ध श्रद्धा एक अनुकरणीय प्रसंग है । अर्जुनमाली के हाथ में मुद्गर देखकर, साक्षात् काल को सामने पाकर भी सुदर्शन श्रावक का अविचल रहना, मृत्यु से भयभीत न होना एवं सागारी संथारा ग्रहण करना अपने आप में अद्वितीय उदाहरण है ।

महाराजा श्रेणिक की महारानियाँ एवं कोणिक की छोटी माताओं में काली-सुकाली आदि 10 महारानियों के संयम मार्ग पर

आरूढ़ होकर घोर तपस्याएं की । आठवें वर्ग में इनका वृत्तांत आदर्श त्याग एवं तप का परिचायक है ।

तीन खण्ड के अधिपति वासुदेव श्री कृष्ण का प्रतिदिन अपनी माताओं को पद-वंदन करना एवं अपनी माता देवकी की चिन्ता को दूर करने के लिए पूर्ण प्रयत्न करना महापुरुषों की मातृ-भक्ति, विनय एवं आदर्श जीवन का द्योतक है । इसी प्रकार श्रीकृष्ण वासुदेव का एक साधारण वृद्ध नागरिक पर करुणा लाकर ईंटों के ढेर में से एक ईंट उठाकर उसके घर में रखने का कार्य उत्तम पुरुषों के हृदय में करुणा एवं सेवा की भावना का आदर्श उदाहरण है ।

अन्तगड सुत्तं में राजकुमारों का वर्णन है तो महारानियों का वर्णन भी है । अर्जुनमाली जैसे हत्या में प्रवृत्त होकर भी मुक्ति के मार्ग पर लगने का वर्णन है तो गजसुकमाल जैसे क्षमावान का भी वर्णन भी है । एवन्ताकुमार जैसे बालक के संयम पथ पर आरूढ़ होने का भी उल्लेख है । इस प्रकार इस सूत्र में विभिन्न श्रेणी के साधकों का रोचक एवं प्रेरणास्पद वर्णन संकलित है । इससे यह स्पष्ट है कि साधना के क्षेत्र में वैभव, जाति, आयु, पूर्व का जीवन आदि बाधक नहीं हैं । जहां एक ओर राजकुमार, महारानियां, गाथापति आदि साधना पथ पर अग्रसर हुए हैं वहीं दूसरी ओर मनुष्यों की हिंसा करने वाले और उपेक्षित वर्ग के व्यक्ति भी उसी पथ पर चल कर मुक्ति का साम्राज्य प्राप्त करते हैं । इसलिए कहा है कि घृणा पाप से हो न कि पापी से । पापी तो परिवर्तित होकर धर्मी बन सकता है, अतः स्वीकार्य योग्य है । पाप तो हेय है ही ।

इस प्रकार त्रिखण्डाधिपति श्री कृष्ण वासुदेव की मातृ-भक्ति एवं असहाय पर अनुकम्पा भाव से सेवा, श्री गजसुकमाल मुनि की क्षमा, सुदर्शन श्रावक की धर्म दृढ़ता, गौतम कुमार आदि की ज्ञान आराधना, काली-सुकाली आदि महारानियों की विशिष्ट तपाराधना इस सूत्र के आदर्श प्रेरणास्पद प्रसंग हैं ।

अन्तकृतदशा सूत्र का वांचन क्यों ?

कई बार यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रति वर्ष पर्युषण में अन्तकृतदशा सूत्र का ही वाचन क्यों किया जाता है ? अन्य सूत्र का क्यों नहीं ? यों तो सभी शास्त्र तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट हैं लेकिन 'अन्तगडदसा सुत्तं' का किसी अपेक्षा से विशिष्ट स्थान है ।

1. पर्युषण पर्व हमारे लिए सर्वोत्कृष्ट लोकोत्तर पर्व है । सभी जैन मतावलम्बियों के लिए पर्युषण पर्व का विशेष महत्व है । जो लोग अल्पतम धार्मिक रुचि के हैं वे भी पर्युषण पर्व में तो व्याख्यान श्रवण की भावना रखते हैं । अतः ऐसे अवसर पर ऐसे शास्त्र का वाचन होना चाहिए जिससे त्याग-वैराग्य की विशेष प्रेरणा मिल सके । अन्तकृतदशा सूत्र एक ऐसा ही सूत्र है जिसके श्रवण से आत्मा जागृत हो सकती है । इस सूत्र में ऐसे महापुरुषों का साधना वृत्तान्त है जिन्होंने अपनी आत्मा को जागृत कर ज्ञान-दर्शन-तप की शुद्ध आराधना द्वारा कर्मों की श्रृंखला को समाप्त कर उसी भव में मुक्ति को वरण किया है । अन्तिम अष्टम वर्ग में तो तप आराधना का उत्कृष्ट उदाहरण है । उनका अपार वैभव, समृद्धि, परिवार उनके त्याग वैराग्यपूर्ण साधना में कहीं बाधक नहीं हुआ, इन सबको ठोकर मार कर साधना पथ पर अग्रसर हो गए । अतः पर्युषण पर्व के पावन दिवसों में 'अन्तगडदसा सुत्तं' का पठन-पाठन विशेष प्रेरणादायी सिद्ध होता है ।

2. 'अन्तगडदसा सुत्तं' एक ऐसा सूत्र है जिसका वाचन आठ दिन में पूर्ण किया जा सकता है । प्रतिदिन लगभग 45 मिनिट तक वाचन करने से अन्तकृतदसा सूत्र को आठ दिवस में अर्थ सहित वाचन पूर्ण किया जाता है । ऐसा आत्म साधना प्रेरक अन्य कोई अंग सूत्र नहीं है जो इतने अल्प समय में पूर्ण किया जा सके। अतः पर्वाधिराज पर्युषण पर्व के पावन प्रसंग पर वाचन के लिए अन्तकृतदशा सूत्र सर्वोत्तम सिद्ध होता है ।

3. पर्युषण पर्व के दिवस भी आठ हैं, आत्मा के मूल गुण भी आठ हैं, संसारी प्राणियों के कर्म भी आठ हैं तथा अन्तकृतदशा सूत्र के वर्ग भी आठ हैं । यह आठ का संयोग भी अन्तकृतदशा सूत्र की उपादेयता की ओर संकेत करता है ।

4. कभी-कभी यह भी जिज्ञासा प्रस्तुत होती है कि प्रातः अन्तगडदसा के बजाय कल्पसूत्र क्यों नहीं पढ़ा जाता है ? मैं सुझाव रूप में यह निवेदन कर दिया करता हूं कि प्रातः तो अन्तगड का ही वाचन किया जावे, यदि कल्पसूत्र के श्रवण की इच्छा हो तो दोपहर में पठन-पाठन करना उपयुक्त है । इसके समाधान के निम्न कारण मेरे ध्यान में हैं ।

(क) अन्तकृतदशा सूत्र अंग सूत्रों में आठवां अंग सूत्र है जबकि कल्पसूत्र न तो अंग सूत्र है और न उपांग सूत्र है ।

(ख) अंग सूत्र तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट होने से वीतराग वचन हैं । अतः अन्तकृतदसा सुत्तं वीतराग वाणी है और कल्पसूत्र आचार्यों की कृति है । तुलनात्मक दृष्टि से अंग सूत्र का अधिक महत्व है । यों कल्प सूत्र भी जैन साहित्य है, श्रुतवाहु केवली आचार्य श्री भद्रबाहु की अनमोल कृति है ।

(ग) कथानक की दृष्टि से भी अन्तगडदसा सुत्तं की उपयोगिता कल्प सूत्र की अपेक्षा अधिक है । क्योंकि कल्प सूत्र में दस कल्पों का विवरण है, 24 वें तीर्थंकर भगवान महावीर के पूर्व भवों सहित पंच कल्याणक का विस्तार से वर्णन है तथा उसके साथ ही शेष तेईस तीर्थंकरों का संक्षेप में वर्णन है । इस प्रकार कल्प सूत्र जैन तीर्थंकरों का संक्षिप्त इतिहास है । वाद में पट्टावलियां भी जोड़ दी गई हैं । परन्तु अन्तगडदसा सुत्तं में तो ऐसी महान् आत्माओं के जीवन वृतांत हैं जिनके पठन-पाठन से सुसुप्त आत्मा भी जागृत होकर मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा प्राप्त कर सके ।

अतः तुलनात्मक दृष्टि से अन्तकृत सूत्र अधिक उपयोगी सिद्ध होता है ।

पर्युषण पर्व में कई बार स्वाध्यायियों के समक्ष यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि सूत्र की भाषा प्राकृत (अर्धमागधी) है जिसे जन साधारण नहीं समझता, फिर उसे पढ़ने से क्या लाभ है ? इसका समाधान यह है कि-

(1) जिस प्रकार सर्प दंस पर मंत्रवादी मंत्रों का उच्चारण करता है । जिसको सर्प ने काटा है वो मंत्र की भाषा नहीं समझता है फिर भी मंत्रवादी द्वारा मंत्रोच्चारण से सर्प का विष दूर हो जाता है । इसी प्रकार हम भी कषाय रूपी सर्प के विष से प्रभावित हैं, कर्म रूपी सर्प के विष से प्रभावित हैं । अतः सूत्रों के पठन-पाठन से कर्मों की निर्जरा कर सकते हैं, कषाय रूपी सर्प के विष से मुक्त हो सकते हैं ।

(2) अर्थ नहीं समझते हुए भी शास्त्रों का पठन-पाठन स्वाध्याय है जो कि एक आभ्यान्तर तप है । स्वाध्याय से कर्मों की निर्जरा होती है ।

(3) पर्युषण पर्व में अन्तकृत सूत्र का पठन वर्तमान युग में अर्थ सहित किया जाता है । जिससे सूत्र आसानी से समझा जा सकता है ।

(4) सूत्रों के बार-बार पठन-पाठन से भाषा भिन्न होने पर भी सूत्र के रहस्य को समझने की क्षमता प्राप्त हो सकती है ।

अतः अर्धमागधी भाषा में होने पर भी सूत्रों का पठन-पाठन लाभप्रद है ।



लघु प्रार्थना-स्तवन

(1)

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्र महिताः, सिद्धाश्च सिद्धि स्थिताः ।
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः, पूज्या उपाध्यायकाः ॥
श्री सिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा, रत्नत्रयाराधकाः ।
पंचैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं, कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥

(2)

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतम प्रभुः ।
मंगलं स्थूलिभद्राद्याः, जैन धर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

(3)

सर्व मंगल-मांगल्यं, सर्व कल्याणकारणम् ।
प्रधानं सर्व धर्माणां, जैनं जयतु शासनम् ॥

(4)

जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजलि नमं संति ।
तं देव-देव महियं, सिरसा वंदे महावीरम् ॥

(5)

एगो वि नमुक्कारो जिणवर व सहस्स वद्धमाणस्स ।
संसार-सागराओ तारेइ, नरं व नारि वा ॥

(6)

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमं संति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

(7)

तुभ्यं नमस्त्रि भुवनार्तिहराय नाथ ।
तुभ्यं नमः क्षितितलामल-भूषणाय ॥
तुभ्यं नमस्त्रि जगतः परमेश्वराय ।
तुभ्यं नमो जिन भवोदधिशोषणाय ॥

(8)

वीरः सर्व-सुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधाः संश्रिताः ।
वीरेणाभिहतः स्वकर्म-निचयो, वीराय नित्यं नमः ॥
वीरा-तीर्थ मिदं प्रवृत्तमतुलं-वीरस्य घोरं तपो ।
वीरे श्रीधृति-कान्ति-कीर्ति-निचयो, हे वीर ! भद्रं दिश॥

(9)

अविनाशी अविकारी, परम-रस धाम है ।
समाधान सर्वज्ञ, सहज अभिराम है ॥
शुद्ध बुद्ध अविरूद्ध, अनादि अनंत है ।
जगत शिरोमणि सिद्ध, सदा जयवंत है ॥

(10)

दया सुखानी वेलड़ी, दया सुखांनी खान ।
अनंता जीव मुक्ते गया, दया तणां फल जान ॥1॥
हिंसा दुखनी वेलड़ी, हिंसा दुखानी खान ।
अनंता जीव नरके गया, हिंसा तणां फल जान ॥2॥
जिम सुणो तिम ही करो, तो पहुंचे निर्वाण ।
कई एक हृदय राखजो, थांने सुण्यारो परमाण ॥4॥

(11)

अरिहन्त जय-जय, सिद्ध प्रभु जय-जय ।
साधु जीवन जय-जय, जिन धर्म जय-जय ॥1॥
अरिहन्त मंगल, सिद्ध प्रभु मंगल ।
साधु जीवन मंगल, जिन धर्म मंगल ॥2॥
अरिहन्त उत्तम, सिद्ध प्रभु उत्तम ।
साधु जीवन उत्तम, जिन धर्म उत्तम ॥3॥
अरिहन्त शरणं, सिद्ध प्रभु शरणं ।
साधु जीवन शरणं, जिन धर्म शरणं ॥4॥

चार शरण दुख हरण जगत में, और न शरणा कोई होगा ।
जो भव्य प्राणी करे आराधन, उसका अजर-अमर पद होगा ॥

(12)

सत्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वं ।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विद् धातु देव ॥

(13)

नानेशाचार्य महान हैं, तप संयम गुण खान ।
ऐसे सुज्ञानी आचार्य को, मेरे अनेकों प्रणाम ॥

(14)

तुभ्यं नमो निरति चार चरित्र राशे ।
तुभ्यं नमो विगत दोष विशिष्ट योगीन् ॥
तुभ्यं नमो मुनि गणेषु गणि प्रवीर ।
तुभ्यं नमोऽवनि तले विदुषां वरेण्य ॥

卐 卐 卐

ये पर्व पर्युषण आया

(तर्ज- वीरा रमक झमक हुई आईजो....)

ये पर्व पर्युषण आया, सव जग में आनन्द छाया रे ॥टेर॥
यह विषय कषाय घटाने, यह आतम गुण विकसाने ।
जिनवाणी का वल लाया रे ॥ये पर्व....॥1॥
ये जीव रूले चहुँ गति में, ये पाप करण की रति में ।
निज गुण सम्पद को खोया रे ॥ये पर्व....॥2॥
तुम छोड़ प्रमाद मनाओ, नित धर्म ध्यान में रम जाओ ।
लो भव-भव दुःख मिटाया रे ॥ये पर्व....॥3॥
तप जप से कर्म खपाओ, दे दान द्रव्य फल पाओ ।
ममता त्यागी सुख पाओ रे ॥ये पर्व....॥4॥
मूरख नर जन्म गमावे, निन्दा विकथा मन भावे ।
इनसे ही गोता खावे रे ॥ये पर्व....॥5॥
जो दान शील आराधे, तप द्वादश भेदे साधे ।
शुद्ध मन जीवन सरसाया रे ॥ये पर्व....॥

बेला तेला और अठायां, संवर प्रौषध करो भाया ।

शुद्ध पालो शील सवाया रे ॥ये पर्व.... ॥7॥

तुम विषय कषाय घटाओ, मन मलिन भाव मत लाओ ।

निन्दा विकथा तज माया रे ॥ये पर्व.... ॥8॥

केई आलस में दिन खोवे, शतरंज तास या सोवे ।

पिक्चर में समय गमावे रे ॥ये पर्व.... ॥9॥

संयम की शिक्षा लेना, जीवों की जयणा करना ।

जो जैन धर्म थें पाया रे ॥ये पर्व.... ॥10॥

जन-जन का मन हर्षाया, बालकगण भी हुलसाया ।

आत्म शुद्धि हित आया रे ॥ये पर्व.... ॥11॥

समता से मन को जोड़ो, ममता का बन्धन तोड़ो ।

है सार ज्ञान का पाया रे ॥ये पर्व.... ॥12॥

सुरपति भी स्वर्ग से आवे, हर्षित हो जिन गुण गावे ।

जन-जन को अभय दिलाया रे ॥ये पर्व.... ॥13॥

'गजमुनि' निज मन समझावे, यह सोई शक्ति जगावे ।

अनुभव रस पान कराया रे ॥ये पर्व.... ॥14॥



एवन्ता मुनिवर नाव तिराई

एवन्ता मुनिवर नाव तिराई बहता नीर में ॥टेर॥

पोल्लासपुरी नगरी के राजा, विजयसेन भूपाल ।

श्री देवी के अंग ऊपना, एवन्ता कुमार रे ॥1॥

बेले-बेले करे पारणा, गणधर-पदवी पाया ।

महावीरजी की आज्ञा लेकर, गौतम गोचरी आया ॥2॥

खेल रहा था खेल कँवरजी, देख्या गौतम आता ।

घर-घर मांहि फिरो हिंडता, पूछे दूसरी बातां जी ॥3॥

असनादिक लेने के काजे, निर्दोषन हम बहरां ।

ऊँगली पकड़ कुँवर एवन्ता, लायो गौतम लार जी ॥4॥

माता देखी कहे पुण्यवन्ता, भली जहाज घर आणी ।
हर्ष भाव धर निज हाथन से, वहराया अन्न पाणी जी ॥5॥
लारे-लारे चल्या कुँवरजी, भेट्या मोटा भाग ।
भगवन्ता री वाणी सुनने, उपना मन वैराग जी ॥6॥
घर आवी माता सूँ बोले, अनुमति की अरदास ।
वात सुनी माता पुत्र की, मन में आई हांस जी ॥7॥
तु क्या जाने साधूपना में, वाल अवस्था थारी ।
ऐसो उत्तर दियो कँवरजी, मात कहे बलिहारी जी ॥8॥
मोछव करीने संजम लीनो, हुआ वाल अणगार ।
भगवन्ता चरण भेटिया, धन ज्यांरा अवतार जी ॥9॥
वरसाकाल बरस्या पीछे, मुनिवर थण्डिले जावे ।
पाल बान्ध पानी में पातरा, नाव जान तिरावे जी ॥10॥
नाव तिरे म्हारी नाव तिरे यों, मुख से शब्द उचारे ।
साधा के मन शंका उपनी, किरिया लागे थांरे जी ॥11॥
भगवन्त भाखे सब साधा से, भक्ति करो तेह दिल ।
हिलना निन्दा मति करो कोई, चरम शरीरी जीव जी ॥12॥
शासनपति का वचन सुनी ने, सब ही शीष चढ़ाया ।
एवन्ता की हुण्डी सिकरी, आगम मांहि गाया जी ॥13॥
संवत् उन्नीसे साल छेयालिस, भिल्लाड़ा शेखे काल ।
'रतनचन्द्रजी' गुरु प्रसादे, गाई हीरालाल जी ॥14॥

卐 卐 卐

काली ओ राणी सफल कियो

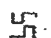
काली ओ राणी सफल कियो अवतार ।
थें तो पाम्या हो भवोदधि पार ॥टेर॥
कोणिक रायनी छोटी माता, श्रेणिक नृप की नार ।
वीर जिनन्द की वाणी सुन ने, लीनो है संयम धार ॥1॥
चन्दनवाला जैसा मिल्या गुराणी, नित-नित नमी चरणार ।
विनय करीने भणी अंग इग्यारे, तेनी निर्मल वुद्धि अपार ॥2

सुमति गुप्ति शुद्ध संयम पाल्यो, चढ़ी परणामों की धार ।
आज्ञा लेईने सती निज गुरुणी की, माण्डी तपस्या अपार ॥3॥
शरीर शक्ति जाणी सती ने, आराध्यो रत्नावली तपनो हार ।
चार लड़ी सम्पूर्ण कीनी, तेनो आठवें अंग अधिकार ॥4॥
पाँच बरस तीन मास दो दिन कम, लागो इतनो काल ।
धन्य महासती तप आराध्यो, तेने वन्दना छे बारम्बार ॥5॥
आठ वर्ष सुध संयम पाल्यो, कर्म किया सब छार ।
जन्म जरा और मरण मिटायो, पहुँची मोक्ष मझार ॥6॥
गुरु नन्दलालजी तणा शिष्य गायो, शहर भीलाड़ा मझार ।
ऐसी सती का सुमिरन से ही, वरत्या हो मंगलाचार ॥7॥

जय जय जय जयकार पर्युषण

जय जय जय जयकार पर्युषण, जय जय जय जयकार ॥टेर॥
स्वागत स्वागत पर्व तुम्हारा लो अभिनन्दन आज हमारा ।
वन्दन सौ-सौ बार...... ॥1॥
सब पर्वों का तू है राजा, तुझसे उन्नत जैन समाजा ।
हम तुझ पर बलिहार...... ॥2॥
तीर्थंकर भी तुम्हें मनाते, सुर, नर, किन्नर सब गुण गाते ।
महिमा अपरम्पार..... ॥3॥
सकल संघ की सेवा पल-पल, बहे शान्ति का झरना निर्मल ।
पालें शुद्धाचार..... ॥4॥
चाहे त्रस या स्थावर प्राणी, चाहे मित्र हो दुश्मन जानी ।
आतम सम व्यवहार..... ॥5॥
मैत्री का संदेश सुहाना, भूलो अपना और बेगाना ।
सबसे प्रीति अपार..... ॥6॥
आओ हम सब मिल आराधे, मैत्री भावना दृढ़तर साधें ।
सफल करें त्यौहार..... ॥7॥

हाँ आज संवत्सरी आई

सब पर्वों का ताज, पुण्य दिन आज, संवत्सरी आई ।
सब जन लो हर्ष मनाई ॥टेर॥
चौरासी लाख जीव योनि से, जो वैर किया मन वच तन से ।
भूलो वह और लो मैत्री भाव बसाई ॥हाँ आज.॥1॥
जो जानबूझ कर पाप किया, या अनजाने अतिचार हुआ ।
लो दण्ड और दो मिच्छामि दुक्कडं भाई ॥हाँ आज.॥2॥
अरिहन्त सिद्ध आचार्य श्री, पाठक मुनिवर महासतियाँजी ।
श्रावक-श्राविका इन सबसे लेवो खमाई ॥हाँ आज.॥3॥
जो खमता और खमाता है, वह प्राणी आराधक बनता है ।
आराधक की होती है गति सुखदाई ॥हाँ आज.॥4॥
यह पर्व नित्य नहीं आता है, पाले वह मुक्ति पाता है ।
केवल कहते 'पारस' अपना नरमाई ॥हाँ आज.॥5॥

संवत्सरी आया पर्व महान्

धन्य धन्य है दिवस आज का, सुनो सभी इन्सान ।
संवत्सरी आया पर्व महान् ।
राग द्वेष को त्याग के सारे, गावो प्रभु के गान ।
संवत्सरी आया पर्व महान् ॥टेर॥
गुरु चरणों में सारे आके, विनय से अपना शीष झुकाके ।
रगड़े झगड़े सभी मिटाके, अपने दिल को साफ बनाके ।
प्राणी मात्र से मिलकर सारे, मांगो क्षमा का दान ॥
संवत्सरी आया पर्व महान् ॥1॥
भेदभाव को दूर निवारो, जागो वीरों उठो विचारो ।
जीती बाजी व्यर्थ न हारो, मिलकर आज प्रतिज्ञा धारो ।
जैन धर्म का तन-मन-धन से, करेंगे हम उत्थान ॥
संवत्सरी आया पर्व महान् ॥2॥

पापों के सब बन्धन तोड़ो, मोह और ममता को छोड़ो ।
विषयों से मन अपना मोड़ो, सच्चा प्रभु से नाता जोड़ो ।
'चन्द्रभूषण' जियो जीने दो, यही वीर फरमान ॥
संवत्सरी आया पर्व महान् ॥3॥

स्वाध्याय करो

जीवन को उच्च बनाना हो, स्वाध्याय करो, स्वाध्याय करो ।
मानवता को विकसाना हो, स्वाध्याय करो, स्वाध्याय करो ॥टे.॥
व्यवहारिक शिक्षण खूब लिया दुनिया ।
यदि धर्म में चित्त लगाना हो, स्वाध्याय करो-2 ॥1॥
अज्ञान दशा की करणी को करते हुए काल अनन्त हुआ ।
यदि ज्ञान की ज्योति जगाना हो, स्वाध्याय करो-2 ॥2॥
सद्ज्ञान बिना ऐ भ्राताओं सामायिक सफल नहीं होगी ।
मन में समता रस लाना हो, स्वाध्याय करो-2 ॥3॥
तन-धन का गर्व नहीं करना, ये तो सब जाने वाले हैं ।
इस भव-परभव सुख पाना हो, स्वाध्याय करो-2 ॥4॥
यदि धर्म की दशा करना है, केवल सन्तों से नहीं होगी ।
सिद्धान्त पढ़ो, विद्वान बनो, स्वाध्याय करो-2 ॥5॥

सामायिक सन्देश

जीवन उन्नत करना चाहो तो, सामायिक साधन करलो ।
आकुलता से बचना चाहो तो सामायिक साधन करलो ॥टेर॥
तन धन परिजन सब सपने हैं, नश्वर जग में नहीं अपने हैं ।
अविनाशी सद्गुण पाना हो तो सामायिक साधन करलो ॥1॥
चेतन निज घर को भूल रहा, पर घर माया में झूल रहा ।
सद्चिद् आनन्द को पाना हो तो सामायिक साधन करलो ॥2॥

विषयों में निज गुण मत भूलो, अब काम क्रोध में मत झूलो ।
समता के सर में नहाना हो तो सामायिक साधन करलो ॥3॥
तन पुष्टि हित व्यायाम चला, मन पोषण को शुभ ध्यान भला ।
आध्यात्मिक बल पाना हो तो सामायिक साधन करलो ॥4॥
सब जग जीवों में बन्धु भाव, अपनालो तज के वैर भाव ।
सब जन के हित में सुख मानो तो सामायिक साधन करलो ॥5॥
निर्व्यसनी हो, प्रमाणिक हो, धोखा न किसी जन के संग हो ।
संसार में पूजा पाना हो तो सामायिक साधन करलो ॥6॥
साधक सामायिक संघ बने, सब जन सुनीति के भक्त बने ।
नरलोक में स्वर्ग बसाना हो तो सामायिक साधन करलो ॥7॥

दान की महिमा है महान

अरे मुसाफिर जग में आकर, कर जाना कुछ दान ।
दान की महिमा बड़ी महान-2 ॥
तीन लोक में होते रहते, दानी के गुण गान ।
दान की महिमा बड़ी महान ॥टेर॥

दान शील तप भाव बताया, नाम दान का पहले आया ।
जिसने जो कुछ वैभव पाया, पूर्व दान की है सब माया ।
ऊँची गतियों में जाने का प्रथम यही सोपान ॥
॥दान की महिमा बड़ी महान॥1॥

नदियाँ सागर को दे देवे, सागर से बादल पा लेवे ।
फिर बादल जग पर बरसावे, वही पुनः नदियाँ में आवे ।
कमी नहीं होने देते हैं दानी के भगवान् ॥
॥दान की महिमा बड़ी महान॥2॥

क्षण भंगुर ये कच्ची काया, उससे भी यह चञ्चल माया ।
खाली हाथ यहाँ था आया, पूर्व दान फल से कुछ पाया ।
यहीं छूट जाये सब वैभव, दो दिन का मेहमान ॥
॥दान की महिमा बडी महान॥3॥

खुद का पेट सभी भरते हैं, खुद के लिए सभी पचते हैं ।
धन से परहित जो करते हैं, जग में नाम अमर करते हैं ।
जनम-जनम का हो जाता है, दानी का एहसान ॥
॥दान की महिमा बड़ी महान॥4॥

करण महान कहाया कैसे, नाम दधिचि ने पाया कैसे ।
भामाशाह पूजाया कैसे, नाम चमकते मोती जैसे ।
तन की शोभा शील धर्म है, धन की शोभा दान ॥
॥दान की महिमा बड़ी महान॥5॥

इम झूरे देवकी राणी

इम झूरे देवकी राणी, या तो पुत्र बिना विलखाणी रे ॥टेर॥
मैं तो सातों नन्दन जाया, पिण एक न गोद खिलायो रे ॥1॥
घर पालणो नहीं बन्धायो, नहीं मधुर हालरियो गायो रे ॥2॥
घुघरा चुखनी ना बसाई, झमर पिण नाहिं बन्धाई रे ॥3॥
नहीं गदणा कपड़ा पहिराया, नहीं झगल्या टोपी सिवाया रे ॥4॥
नहीं काजल आँख लगायो, नहीं स्नान करी ने जीमायो रे ॥5॥
नहीं गले दामण दीधा, वली चान्द सूरज नहीं कीधा रे ॥6॥
नहीं स्तन पान करायो, रूठा ने नहीं मनायो रे ॥7॥
मैं तो कडिया नाहि उठायो, नहीं अंगुली पकड़ चलायो रे ॥8॥
घू घू कही नाहिं डरायो, नहीं गुदगल्या से हँसायो रे ॥9॥
नहीं मुख पे चुम्मा दीधा, नहीं हरष वारणा लीधा रे ॥10॥
नहीं चक्री भँवरा मंगाया, नहीं गुलिया गेन्द वसाया रे ॥11॥
मैं जन्म तणा दुःख देख्या, गया निष्फल जन्म अलेख्या रे ॥12॥
मैं पूरा पुण्य नहीं कीधा, तिणथी सुत विछड़ा लीधा रे ॥13॥
गले वे हाथ नजर है धरती, आँखे आँसू भर झरती रे ॥14॥
पग वन्दन कृष्ण पधारे, माजी ने उदास निहारे रे ॥15॥
कहे अमीरख किम दुख पावो, माताजी मुझ फरमावो रे ॥16॥

प्रत्याख्यान सूत्र

१. नवकारसी

उग्गए सूरे नमोक्कारसहियं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं वोसिरामि ।

२. पौरुषी

उग्गए सूरे पोरसियं पच्चक्खामिं, चउव्विहं पि आहारं, असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

३. दो पोरसी

उग्गए सूरे पुरिमड्ढं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं-असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

४. एकासन

एगासणं पच्चक्खामि, तिविहं[1] पि आहारं-असणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं, आउंटण-पसारेण, गुरु अब्भुट्ठाणेणं परिट्ठावणियागारेणं[2] महत्तरागारेणं, सव्व-समाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

---

1. यदि चौविहार करना हो तो 'तिविहं' के स्थान पर 'चउव्विहं' बोले तथा 'असण' के बाद 'पाणं' भी बोले ।

2. 'परिट्ठावणियागारेण' केवल साधुओं के लिए ही प्रयुक्त होता है ।

५. एकस्थान (एगलठाणा)

एगलट्ठाणं पच्चक्खामि तिविहं पि चउव्विहं पि आहारं-असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं गुरु अब्भुट्ठाणेणं, परिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

६. आयम्बिल

आयम्बिल पच्चक्खामि, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, उक्खित्तविवेगेणं, गिहिसंसट्ठेणं, परिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

७. उपवास-बेला आदि

उग्गए सूरे, अभत्तट्ठं[1] पच्चक्खामि, चउव्विहं[2] पि आहारं, असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, परिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

८. नीवी

निविगइयं पच्चक्खामि अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं, लेवालेवेणं, गिहत्थसंसिट्ठेणं, उक्खित्तविवेगेणं, परिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

९. दया-संवर

द्रव्य से हिंसादि पांच आश्रव के, क्षेत्र से लोक प्रमाण, काल

1.बेले के लिए 'छट्ठं भत्तं', तेले के लिए 'अट्ठ भत्तं' इसी प्रकार आगे की तपस्या के लिए 2-2 भत्तं बढाते जावें । जितने दिन की तपस्या करनी हो उस संख्या को दुगुना करके दो जोड़ देवें ।

2 तिविहार तपस्या के लिए 'चउव्विहं' के स्थान पर 'तिविहं' बोले तथा 'पाणं' न बोले ।

से सूर्योदय तक, भाव से एक करण एक योग[1] से पच्चक्खाण, न करेमि कायसा तस्स भंते, पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

१०.अभिग्रह

अभिग्गहं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं-असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

विवेकेन बिना यच्च, तत्तपस्तनु तापकृत् ।
अज्ञान कष्टमेवेदं, न भूरिफलदायकम् ॥

भावार्थ- विवेक के बिना किया गया तप केवल शारीरिक संताप है - अज्ञान तप है । उससे विशेष फल नहीं मिलता ।

दानं प्रियवाक्सहित, ज्ञानमगर्व क्षमान्वित शौर्यम् ।
वित्त त्यागनियुक्तं, दुर्लभमेतच्चतुष्टयं लोके ॥

भावार्थ- लोक में ये चार बातें मिलना दुर्लभ है - 1. प्रिय वचनों के साथ दान 2. गर्व रहित ज्ञान 3. क्षमायुक्त शूरवीरता और 4. त्याग सहित दान ।

(विष्णुश्रम)

1. जितने करण एवं योग से दया रावर लेना हो उतने करण योग बोले । (अतिक्रम दो करण तीन योग)

प्राकृत खण्ड

उपयोगी गाथाएँ

चत्तारि मंगलं पाठ

चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं ।

चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवली पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा ।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवली पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ।

चार शरणा दुःख हरणा, और न शरणा कोय ।
जो भवि प्राणी आदरे, तो अक्षय अमर पद होय ॥

धर्म–

धम्मो मंगल मुक्किट्टं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

भावार्थ- अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म सर्वश्रेष्ठ मंगल है । जिसके चित्त में सदा धर्म रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं । (दशवैकालिक 1/1)

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥

भावार्थ- जव तक बुढ़ापा नहीं सतावे, जव तक रोग, व्याधियां नहीं वढ़ें, तव तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए ।

(दशवैकालिक 8/36)

एवं धम्म पि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं ।
बच्छंतो सो सुही होइ, अप्प कम्मे अवेयणे ॥

भावार्थ- पाथेय साथ लेकर जाने वाले पथिक की तरह जो मनुष्य धर्म की आराधना कर परलोक में जाता है, वह वहां अल्प कर्म वाला होकर परम सुखी होता है । (उत्तराध्ययन 19/21)

धम्मो ताणं, धम्मो सरणं, धम्मो गह पइट्ठा य ।
धम्मेण सुचरिएण य गम्मइ अजरामरं ठाणं ॥2॥

भावार्थ- धर्म तिराने वाला है, धर्म शरण रूप है, धर्म ही गति है तथा धर्म ही आधार है । धर्म की सम्यग् आराधना करने से आत्मा को अजर-अमर पद मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

(तंदुलवेयालिया गाथा 33)

सम्यग्दर्शन

अरिहंतो महदेवो जावज्जीवाय सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपण्णत्तं तत्तं इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥

भावार्थ-जीवन पर्यन्त अरिहंत भगवान मेरे देव हैं, सुसाधु (निर्ग्रन्थ मुनिराज) मेरे गुरु हैं तथा जिन (वीतराग) प्ररूपित तत्त्व ही धर्म है ऐसा सम्यक्त्व मैंने ग्रहण किया है । (आवश्यक सूत्र)

तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं ।

भावार्थ- वीतराग-जिन परमात्मा ने जो कहा है वही सत्य एवं शंका रहित है । (आचारांग 5)

संमत्त दंसी न करेइ पावं ।

भावार्थ- सम्यग् दृष्टि पाप नहीं करता । योग प्रवृत्ति होने पर भी वह पाप से मुक्त रहता है । (आचारांग 3)

दंसण संपन्नपाए, भव मिच्छत्त छेयणं करेइ ।

भावार्थ- सम्यग् दर्शन से मिथ्यात्व का नाश होता है, संसार परिभ्रमण घटता है । (उत्तराध्ययन 29)

नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न होंति चरण गुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमुक्करस निव्वाणं ॥

भावार्थ- सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान सम्यग् नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र गुण प्रकट नहीं होता । चारित्र गुण के अभाव में मुक्ति नहीं होती और सिद्ध पद की प्राप्ति नहीं होती ।
(उत्तराध्ययन 28/30)

नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे ।
चारित्तेण निगिण्हाइं, तवेण परिसुज्झइ ॥

भावार्थ- सम्यग्ज्ञान से आत्मा जीवादि पदार्थों को जानता है, सम्यग्दर्शन से उन पर श्रद्धा करता है, चारित्र द्वारा आत्मा नवीन कर्मों को आने से रोकता है तथा तप द्वारा पुराने कर्मों को नष्ट करता है । (उत्तराध्ययन 28/35)

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सुग्गइं ॥

भावार्थ- सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र एवं तप ये चारों मोक्ष के मार्ग हैं जिससे जीव को सुगति की प्राप्ति होती है ।
(उत्तराध्ययन 28/3)

ज्ञान

सवणे नाणे य विन्नाणे पच्चक्खाणे य संजमे ।
अणासवे तवे चेव, बोदाणे अकिरिय सिद्धि ॥

भावार्थ- सुनने से ज्ञान होता है, ज्ञान से विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) होता है । विज्ञान होने से आत्मा प्रत्याख्यान करता है,

जिससे संयम की आराधना होती है । संयम से नवीन कर्मों का आना रुकता है, तप की आराधना होती है, जिससे पुराने कर्म क्षय होते हैं । कर्मों के क्षय होने से जीव क्रिया रहित होता है तथा सिद्धि को प्राप्त करता है । (भगवती सूत्र श. 2, उ. 5)

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्व संजए ।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाही सेय पावगं ॥

भावार्थ- दया अर्थात् चारित्र - क्रिया से पूर्व ज्ञान होना चाहिए । ज्ञान होगा तो ही संयमी अपने आचार का पालन कर सकेगा । अज्ञानी क्या कर सकता है ? वह अपने हित-अहित को कैसे समझ सकता है ? (दशवैकालिक 4/10)

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ॥

भावार्थ- सुनकर आत्मा कल्याण एवं पाप दोनों मार्ग को जान सकता है । अतः जो उचित हो उसका अनुसरण करना चाहिए । (दशवैकालिक 4/11)

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हापाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

भावार्थ- सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता । अतः निर्ग्रन्थ मुनिराज हिंसा का सर्वथा त्याग करते हैं ।
(दशवैकालिक 6/10)

ब्रह्मचर्य

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं ।

भावार्थ- ब्रह्मचर्य सभी प्रकार के तपों में श्रेष्ठ है ।
(सूयगडांग सूत्र 6/23)

देव-दाणव गंधव्वा, जक्ख रक्खस किन्नरा ।
बंभयारी नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं ॥

भावार्थ- दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी पुरुष को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं । (उत्तराध्ययन सूत्र 16/16)

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिण देसिए ।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेणं, सिज्झिस्सन्ति तहावरे ॥

भावार्थ- यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है तथा जिनोपदिष्ट है । इसका आचरण कर भूतकाल में कई जीव सिद्ध हुए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं तथा भविष्य में भी होंगे ।

(उत्तराध्ययन सूत्र 16/17)

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो ।

भावार्थ- मुर्च्छा (ममत्व भाव अर्थात् आसक्ति) ही परिग्रह है । (दशवैकालिक 6/20)

विवेक

कहं चरे कहं चिट्ठे, कहं मासे कहं सए ।
कहं भुंजंतो भासंतो, पाव कम्मं न बंधइ ॥

भावार्थ- प्रश्न - कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? और कैसे सोये ? किस प्रकार भोजन करे ? और कैसे बोले कि पाप कर्म का बंध न हो ? (दशवैकालिक 4/7)

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयं मासे, जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥

भावार्थ- यतना से (विवेकपूर्वक) चले, यतना से खड़ा हो, यतना से बैठे, यतना से सोए, यतना से भोजन करे, यतना से

भाषण करे अर्थात् सभी कार्य यतना से करे तो पाप का बन्ध नहीं होता । (दशवैकालिक 4/8)

दान

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं ।

(सूयगडांग 6/23)

भावार्थ- सभी दानों में अभयदान श्रेष्ठ है ।

तप

तवेणं भंते जीवे किं जगेइ ? तवेणं वोदाणं जणेइ ।

भावार्थ- शिष्य भगवान से प्रश्न करता है कि हे भगवन् ! तप करने से आत्मा को क्या लाभ है ? भगवान उत्तर देते हैं कि तप करने से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश होता है । (उत्तराध्ययन 29/27)

एवं तु संजयस्सावि पाव कम्म निरासवे ।
भव कोड़ी संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जई ॥

भावार्थ- इस प्रकार नवीन पाप कर्म रोक देने पर संयमियों के करोड़ों भवों के संचित कर्म तप द्वारा नष्ट हो जाते हैं ।

(उत्तराध्ययन 5/6)

तवो जोई जीवो जोइ ठाणं ।

भावार्थ- तप ज्योति है और जीव उस ज्योति का स्थान है । (उत्तराध्ययन 12/44)

आत्म-विजय

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥

भावार्थ- आत्मा को दमन (वश में) करना अत्यन्त दुष्कर है । अतः आत्मा को वश में करना चाहिए । जिन्होंने आत्मा को वश में किया है वे इस लोक और परलोक में सुखी होते हैं ।

(उत्तराध्ययन 1/15)

पुरिसा! उत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमोक्खसि ।

भावार्थ- हे पुरुषों ! दुःखों से छुटकारा पाने के लिए आत्मा को विषयों में जाने से रोको । (आचारांग 3/3/119)

जे आया से विण्णाया । जे विण्णाया से आया ।

भावार्थ- जो आत्मा है वह विज्ञाता है, जो विज्ञाता है, ज्ञान वाला है वह आत्मा है । (आचारांग 5/5/116)

नाणं च दसंणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥

भावार्थ- ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये जीव के लक्षण हैं । (उत्तराध्ययन 28/11)

समयं गोयम ! मा पमायए ।

भावार्थ- हे गौतम ! एक समय मात्र भी प्रमाद मत करो ।

(उत्तराध्ययन 10)

अप्पा नइ वेयरणी, अप्पा में कूडसामली ।
अप्पा काम दुहाधेणू, अप्पा में णंदणं वणं ॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य, सुहाण य दुहाण य ।
अप्पा मित्तं ममित्तं च, दुपट्ठिय सुप्पट्ठिओ ॥

भावार्थ- आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी तथा कूट शाल्मली वृक्ष है । आत्मा ही स्वर्ग की कामधेनु (गाय) और नन्दनवन है । सुख एवं दुःख का कर्ता आत्मा है, यही शत्रु और मित्र है ।

(उत्तराध्ययन 20/36-37)

जह किंपागफलाणं, परिणामो न सुंदरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुंदरो ॥

भावार्थ- जिस प्रकार किंपाक फलों के उपयोग का परिणाम सुन्दर नहीं होता, उसी प्रकार भुक्त भोगों का परिणाम भी सुन्दर नहीं होता है ।

(उत्तराध्ययन 19/17)

खणमित्त सुक्खा, बहुकाल दुक्खा, पगाम दुक्खा, अनिगाम सुक्खा ।
संसार मुक्खस्स विपक्ख भूया, खाणी अणत्थाण उ काम भोग ॥

भावार्थ- काम-भोग मोक्ष सुख का शत्रु है, अनर्थों की खान है । ये काम-भोग क्षणिक सुख देने वाले हैं और बहुत काल तक दुःख देने वाले हैं । (उत्तराध्ययन 14/13)

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाण मोहस्स य विवज्जणाए । रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंत सोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥

भावार्थ- सत्य ज्ञान का प्रकाश करने से, अज्ञान एवं मोह का त्याग करने से, राग और द्वेष का क्षय करने से, आत्मा को शाश्वत-एकान्त सुखमय मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

(उत्तराध्ययन 32/2)

कषाय

रागो य दोसो वि य कम्म बीयं, कम्मं च मोहप्प भवं वयंति ।
कम्मं च जाइमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाइमरणं दयंति ॥

भावार्थ- राग और द्वेष कर्म के मूल कारण हैं और कर्म मोह से उत्पन्न होता है । जन्म-मरण ही दुःख है तथा जन्म-मरण का मूल कारण कर्म है ।

(उत्तराध्ययन 20/7)

कोहो य माणो य अणिरगहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा । चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स॥

भावार्थ- अनियंत्रित क्रोध एवं मान तथा बढ़ते हुए माया व लोभ - ये चारों कषाय पुनर्जन्म रूपी वृक्ष को सिंचते हैं - संसार की अभिवृद्धि करते हैं । (दशवैकालिक 8/40)

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुय सील तवो जलं ।
सयुधाराभिहया सन्ता, भिन्ना हु न डहन्ति में ॥

भावार्थ- कषाय अग्नि है तथा श्रुत, शील एवं तप उसे शान्त करने वाला जल है । इस जल की धारा से शान्त किये जाने पर कषाय मुझे नहीं जला सकते, ऐसा तीर्थंकर भगवान ने कहा है । (उत्तराध्ययन 23/53)

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थ दोसा । ए आणि वंता अरहा महेसी, ण कुव्वइ पाव ण कारवेइ ॥

भावार्थ- क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों आत्मा को दूषित करते हैं । इनका पूर्ण रूप से त्यागी अर्हन्त महिपि न स्वयं पाप करते हैं न दूसरों से करवाते हैं । (सूयगड़ांग 6/26)

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय नासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व विणासणो ॥

भावार्थ- क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ समस्त गुणों का नाश करता है । (दशवैकालिक 8/38)

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायं अज्जव भावेणं, लोभं संतो सओ जिणे ॥

भावार्थ- क्रोध को उपशम द्वारा नष्ट करो, मृदुता से मान को जीतो, सरलता से माया पर विजय प्राप्त करो और लोभ को संतोष से जीतो । (दशवैकालिक 8/39)

जहा लाहा तहा लोहा, लाहा लोहो पवड्ढइ ।

भावार्थ- ज्यों-ज्यों लाभ होता है त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है । लाभ से लोभ की अभिवृद्धि होती है । (उत्तराध्ययन 8/17)

सामायिक

दिवसे-दिवसे लक्खं देइ सुवण्णस्स खंडियं एगो ।
एगो (इयरो) पुण सामाइयं करेइ ण पहुप्पए तस्स ॥

भावार्थ- कोई दानी व्यक्ति प्रतिदिन लाख-लाख खण्डी सोने का दान करे और दूसरा कोई व्यक्ति सामायिक करता है तो भी दान सामायिक से बढ़कर नहीं होता । (संबोध प्रकरण 113)

सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥

भावार्थ- सामायिक करने पर श्रावक साधु के समान हो जाता है, अतः श्रावकों को अधिक से अधिक सामायिक करनी चाहिए । (विशेषावश्यक भाष्य गाथा-2690)

विविध

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीय जंतुणो ।
माणुस्सत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥

भावार्थ- मनुष्यत्व, शास्त्र श्रवण, धर्म पर श्रद्धा और संयम में पराक्रम - ये चार साधन जीव को प्राप्त होना अत्यन्त कठिन हैं । (उत्तराध्ययन 3/1)

तवसा धुणइ पुराण पावगं ।

भावार्थ- तप पुराने पापों को नष्ट करता है ।

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ,
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ।

भावार्थ- जिसने एक अर्थात् अपनी आत्मा को जान लिया, उसने संपूर्ण संसार को जान लिया और जो सबको जानता है वह एक (आत्मा) को भी जानता है । (आचारांग 3/123)

सज्झाये मि रओ सया ।

भावार्थ- सदैव स्वाध्याय में रत रहो । (दशवैकालिक 8/42)

नाणेण विना न हुन्ति चरण गुणा ।

भावार्थ- सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यग् चारित्र नहीं होता ।
(उत्तराध्ययन 28/30)

धम्मस्स विणओ मूलं ।

भावार्थ- विनय धर्म का मूल है । (दशवैकालिक 9/2)

जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा ।

भावार्थ- भावों की उच्चता से आश्रव के स्थान भी संवर-निर्जरा के स्थान हो जाते हैं, तथा जो संवर निर्जरा के स्थान हैं वे भावों की नीचता से आश्रव के स्थान हो जाते हैं ।
(आचारांग4/131)

जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे ।

भावार्थ- जो गुण अर्थात् शब्दादि विषय वासना है वही आवर्त अर्थात् संसार है और जो संसार है वही शब्दादि विषय हैं ।
(आचारांग 1/5/41)

अंग्रेजी खण्ड

1. Religion what treasures untold,
Reside in that heavenly world.
More precious than silver and gold,
Or all this earth can afford.

भावार्थ- धर्म में अकथनीय खजाना भरा हुआ है । सोना, चांदी और पृथ्वी की समस्त मूल्यवान वस्तुओं से भी धर्म अतिशय मूल्यवान है ।

2. Self trust is the first secret of success.

भावार्थ- आत्म-विश्वास सफलता का मुख्य रहस्य है ।

3. Most powerful is he who has himself in his power.

भावार्थ- वह सबसे शक्तिशाली व्यक्ति है जो स्वयं को अनुशासन में रखता है ।

4. An hour to suffer a life time to enjoy.

भावार्थ- थोड़ा कष्ट सहने पर जीवन भर आनन्द मिलता है ।

5. In idleness alone there is perpetual despair.

भावार्थ- अकेले प्रमाद में भयंकर निराशा है, पाप है ।

6. An empty mind is devil's workshop.

भावार्थ- खाली दिमाग शैतान का घर है ।

7. Anger blows out the lamp of mind.

भावार्थ- क्रोध मस्तिष्क के दीप को बुझा देता है ।

8. We rise in glory as we sink in pride.

भावार्थ- अभिमान ज्यों-ज्यों घटता है कीर्ति बढती है ।

9. Avarice increases with the increasing pile of gold.

भावार्थ- धन की वृद्धि के साथ-साथ लालच बढ़ता है ।

10. Fancy may kill or care.

भावार्थ- भावना मार भी सकती है और बचा भी सकती है।

11. Every thing that glitters is not gold.

भावार्थ- प्रत्येक वस्तु जो चमकती है वह स्वर्ण नहीं है ।

12. By unily we stand by dividing we fall.

भावार्थ- संघठन में हमारा अस्तित्व है और विभाजन में पतन है ।

13. Unity is strength.

भावार्थ- संगठन में शक्ति है ।

14. Forgiveness is better then revenge, forgiveness is the sign of gentle nature.

भावार्थ- क्षमा सभ्य प्रकृति का लक्षण है, बदला लेने की अपेक्षा क्षमा श्रेष्ठ है ।

15. Trust no future, however pleasant, let the dead past bury its dead, Act in the living present, heart with in and God over head.

भावार्थ- भविष्य के भरोसे मत रहो चाहे वह कितना ही सुन्दर क्यों न हो । भूतकाल की भी चिन्ता छोड़ो । जोभी करना है उसे अपने पर एवं ईश्वर पर विश्वास रखकर वर्तमान में ही करो।

16. Only the actions of the just smell sweet and blossom in the dust.

भावार्थ- सच्चे मानव के कर्म ही मधुर सुगंध देते हैं और धूल में भी खिलते हैं ।

17. Doubt is hell in the human soal.

भावार्थ- शंका मानव-आत्मा में नरक के समान है ।

18. Wealth is not his that has it but his that enjoys it.

भावार्थ- धन उसका नहीं है जिसके पास है, बल्कि उसका है जो उसका उपयोग करता है ।

19. It is better to be alone than in a bad company.

भावार्थ- कुसंगति में रहने की अपेक्षा अकेला रहना उत्तम है ।

20. Life is a pendulum between tears and smiles.

भावार्थ- जीवन हँसी और आँसुओं का मिश्रण है ।

21. Live and let live.

भावार्थ- जीओ और जीने दो ।

22. If wealth is lost nothing is lost, If health is lost something is lost, If character is lost every thing is lost.

भावार्थ- यदि धन खोया तो कुछ नहीं खोया, यदि स्वास्थ्य खोया तो कुछ खोया और यदि चरित्र खोया तो सब कुछ खो दिया।

23. No sword bits so fiercely as an evil tongue.

भावार्थ- कटु जिह्वा के समान भयंकर घाव किसी तलवार का भी नहीं होता ।

24. Work is thy duty, reward is not thy concern.

भावार्थ- फल की इच्छा त्याग कर अपना कर्तव्य करो ।

25. Action speaks louder than words.

भावार्थ- वचनों की अपेक्षा क्रिया अधिक प्रभावशाली होती है ।

26. Truth is immortal.

भावार्थ- सत्य अमर है ।

27. There is no religion higher than truth.

भावार्थ- सत्य से उच्च कोई धर्म नहीं ।

28. Think before you speak, and look before you leap.

भावार्थ- बोलने के पहले सोचो अर्थात् सोचकर बोलो और देखकर चलो ।

29.Silence is more eloquent than words.

भावार्थ- मौन में शब्दों की अपेक्षा अधिक शक्ति है ।

30. The pleasure of giving is more than the pleasure of receiving.

भावार्थ- पाने की अपेक्षा देने में अधिक आनन्द है ।

31. As you food, so is your mood.

भावार्थ- जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन ।

32. A word to the wise.

भावार्थ- बुद्धिमान को संकेत पर्याप्त है ।

33.As you think so shall you act. As you sow so shall you reap.

भावार्थ- जैसा सोचोगे वैसा कार्य करोगे और जैसा बोओगे वैसा काटोगे ।

34. Humility is the solid foundation of all the virtues.

भावार्थ- विनय सभी सद्गुणों की नींव है ।

35. Mercy is twice blessed, it blessed him that gives and him that takes.

भावार्थ- दया का दोहरा लाभ है । यह दाता एवं पात्र दोनों को लाभदायक है ।

36. Life has no blessing like a prudent friend.

भावार्थ- ज्ञानी मित्र के समान जीवन में कोई वरदान नहीं।

37. Charity begins at home, but should not end there.

भावार्थ- दान घर से प्रारंभ होता है किन्तु उसे वहीं समाप्त मत करो ।

38. Mercy is an attribute to God himself.

भावार्थ- दया परमात्मा का निजि गुण है ।

39. Live not to eat, but eat to live.

भावार्थ- खाने के लिए मत जीओ, जीने के लिए खाओ ।

40. Misfortunes never come alone.

भावार्थ- विपदाएँ अकेली नहीं आती ।

41. Voilence is the weapon of the week.

भावार्थ- हिंसा कमजोर का शस्त्र है ।

42. Where there is will there is way.

भावार्थ- जंहा चाह वहां राह ।

43. Time and fiall wait for none.

भावार्थ- समय और ज्वार किसी की प्रतीक्षा नहीं करता ।

44. Oh, God ! thee g. pray increase knowledge day by day.

भावार्थ- हे प्रभु मेरी प्रार्थना है कि मेरे ज्ञान का विकास

45. No pains no gains.

भावार्थ- कष्ट नहीं तो लाभ नहीं ।

46. Man like it is to fall into sim, Friend l it is to dwell there in, Christ like it is for sim grieve, God like it is all to leave.

भावार्थ- मानव का स्वभाव पाप में गिरना है, उसमें रहना शैतान का स्वभाव है, उस पर दुखित होना संत-स्वभाव और सब पापों से मुक्त होना ईश्वरत्व है ।

47. An angry man shuts his eyes and ope his mouth.

भावार्थ- क्रोधी व्यक्ति की आंखें बंद हो जाती हैं और मुँ खुल जाता है ।

48. Love your enemies.

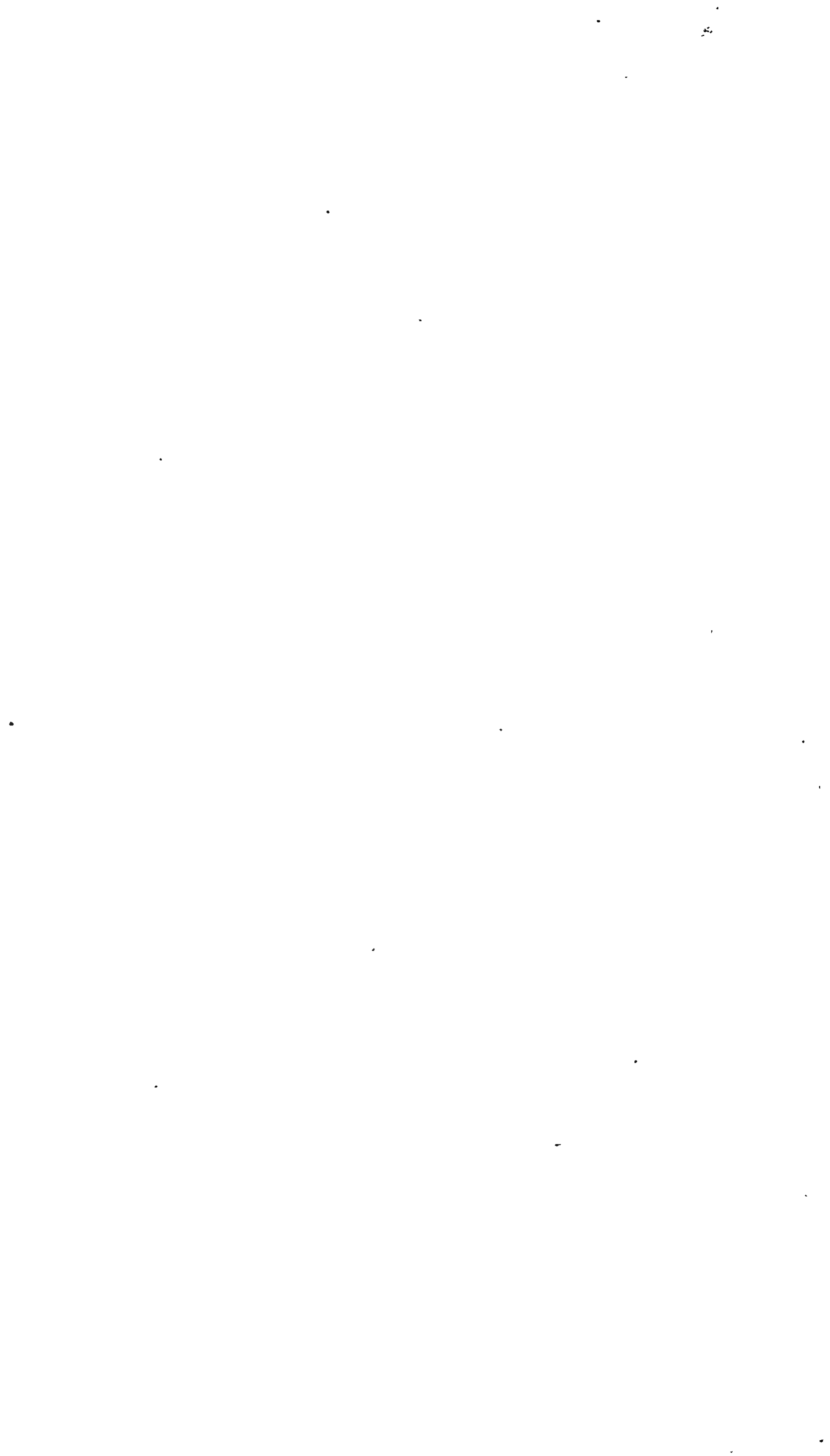
भावार्थ- अपने शत्रुओं से प्यार करो ।

प्रिय वाक्य प्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः ।
तस्मात्देव वक्तव्यं, वचने का दरिद्रता ?

भावार्थ- प्रिय वचनं बोलने से सभी प्राणी प्रसन्न हो जाते हैं, अतः प्रिय वचन बोलना चाहिये । बोलने में कंजूसी क्यों की जाय ?

सत्यं ब्रूयात प्रियं ब्रयान्न, ब्रूयात सत्यप्रियम् ।

सत्य बोलो, प्रिय बोलो परन्तु अप्रिय सत्य मत बोलो ।



शुद्धि-पत्र

पृष्ठ सं.	पंक्ति सख्या	अशुद्ध	शुद्ध
20	8	सींग	बिना सींग
24	12	Previns	Precious
27	19	आवत	भावन
27	20	करे	कर
31	15	पराकर्म	कर्म
34	5	करे	कहे
34	23	रप्प	रत्न
35	3	तवे	तपे
42	2	एव	एवं
42	10	भव प्रत्यये	भव प्रत्यय
45	18	वड़ बड़ें	वड़े-वड़े
51	25	रत्नश्य	रत्न त्रय
51	26	यम्यग दर्शन	सम्यग दर्शन
59	13	कहेला	कहे
66	6	(छपना रह गया है)	5. पर पाखण्ड संस्तव अन्य तीर्थियों की संगती करना
68	5	नीतिकारी	नीतिकारों
78	1	परमात्मा के	परमात्मा को
80	22	बादम	बादाम
85	9	रखने हेतु रखने हेतु	रखने हेतु
89	19	समधि मरण	समाधि मरण
91	9 एवं 11	परजीवी	परजीवों
100	28	करते हैं	करते है ?
101	15	कठिनातम	कठिनतम
114	14	सरलता के	सरलता से
130	9	दान का	दान को
141	22	स्वर्ग	स्वर्ण
141	25	सारा	सार
144	17	तिविहेणं	तिविहेण
151	3	सदा	सादा

पृष्ठ सं.	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
152	18	मं	मैने
153	अन्तिम	वंठे ठे	वंठे-वंठे
155	22	स्त्री कथाा	स्त्री कथा
163	8	एक ही मली	एक ही मलो
167	18	से उल्लास	स उल्लास
193	15	स्वरुप के	स्वरुप का
210	20	दया से ज्ञान	दया से पहले ज्ञान
231	17	अभितान	अभिमान
231	22	अप्रत्याख्यानी	प्रत्याख्यानी
238	20	काइ	कोई
242	14	राजकी	राजकीय
247	14	भी वर्णन भी	वर्णन भी
276	8	Unily	Unity
279	24	fiall	tide
280	1	g	i
280	6	Sim	Sin
280	23	अयान्न	अयात